सुनसान के सहचर

–पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

सुनसान के सहचर

लेखकः श्रीराम शर्मा आचार्य

शासनादेश संख्या २९/७०-१-२००-१५(७)२०००दि.२४ जनवरी के अनुसार कला संकाय में, स्नातक स्तर पर हिन्दी के यात्रा वृत्त के अन्तर्गत पाठ्यपुस्तक के रूप में मान्य।

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

२०१०

मूल्य : २५.०० रुपये

विषय सूची

***

पुस्तक परिचय

इसे एक सौभाग्य, संयोग ही कहना चाहिए कि जीवन को आरम्भ से अन्त तक एक समर्थ सिद्ध पुरुष के संरक्षण में गतिशील रहने का अवसर मिल गया । उस मार्गदर्शक ने जो भी आदेश दिए वे ऐसे थे जिनमें इस अकिंचन जीवन की सफलता के साथ-साथ लोक-मंगल का महान् प्रयोजन भी जुड़ा है ।

१५ वर्ष की आयु से उनकी अप्रत्याशित अनुकम्पा बरसनी शुरू हुई । इधर से भी यह प्रयत्न हुए कि महान् गुरु के गौरव के अनुरूप शिष्य बना जाए । सो एक प्रकार से उस सत्ता के सामने आत्म समर्पण ही हो गया । कठपुतली की तरह अपनी समस्त शारीरिक और भावनात्मक क्षमताएँ उन्हीं के चरणों पर समर्पित हो गयीं । जो आदेश हुआ उसे पूरी श्रद्धा के साथ शिरोधार्य कर कार्यान्वित किया गया । अपना यही क्रम अब तक चलता रहा है । अपने अद्यावधि क्रिया-कलापों को एक कठपुतली की उछल-कूद कहा जाय तो उचित ही विशेषण होगा ।

पन्द्रह वर्ष समाप्त होने और सोलहवें में प्रवेश करते समय यह दिव्य साक्षात्कार मिलन हुआ । उसे ही विलय कहा जा सकता है । आरम्भ में २४ वर्ष तक जौ की रोटी और छाछ इन दो पदार्थों के आधार पर अखण्ड दीपक के समीप

२४ गायत्री महापुरश्चरण करने की आज्ञा हुई । सो ठीक प्रकार सम्पन्न हुए । उसके बाद दस वर्ष तक धार्मिक चेतना उत्पन्न करने के लिए प्रचार, संगठन, लेखन, भाषण एवं रचनात्मक कार्यों की शृंखला चली । ४ हजार शाखाओं वाला गायत्री परिवार बनकर खड़ा हो गया । उन वर्षों में एक ऐसा संघ बनकर खड़ा हो गया, जिसे नवनिर्माण के लिए उपयुक्त आधारशिला कहा जा सके । चौबीस वर्ष की पुरश्चरण साधना का व्यय दस वर्ष में हो गया । अधिक ऊँची जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए नई शक्ति की आवश्यकता पड़ी । सो इसके लिए फिर आदेश हुआ कि इस शरीर को एक वर्ष तक हिमालय के उन दिव्य स्थानों में रहकर विशिष्ट साधना करनी चाहिए जहाँ अभी भी आत्म चेतना का शक्ति प्रवाह प्रवाहित होता है । अन्य आदेशों की तरह यह आदेश भी शिरोधार्य ही हो सकता था ।

सन् ५८ में एक वर्ष के लिए हिमालय तपश्चर्या के लिए प्रयाण हुआ । गंगोत्री में भगीरथ के तप-स्थान पर और उत्तरकाशी में परशुराम के तप-स्थान पर यह एक वर्ष की साधना सम्पन्न हुई । भगीरथ की तपस्या गंगा-अवतरण को और परशुराम की तपस्या दिग्विजय महापरशु प्रस्तुत कर सकी थी । नव निर्माण के महान् प्रयोजन में अपनी तपस्या के कुछ श्रद्धाबिन्दु काम आ सके तो उसे भी साधना की सफलता ही कहा जा सकेगा ।

उस एक वर्षीय तप साधना के लिए गंगोत्री जाते समय मार्ग में अनेक विचार उठते रहे । जहाँ-जहाँ रहना हुआ, वहाँ-वहाँ भी अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार मन में भाव भरी हिलोरें उठती रहीं । लिखने का व्यसन रहने से उन प्रिय अनुभूतियों को लिखा भी जाता रहा । उनमें से कुछ ऐसी थीं, जिनका रसास्वादन दूसरे करें तो लाभ उठाएँ । उन्हें अखण्ड-ज्योति में छपने भेज दिया गया, छप भी गयीं । अनेक ऐसी थीं जिन्हें प्रकट करना अपने जीवनकाल में उपयुक्त नहीं समझा गया सो नहीं छपाई गयीं ।

उन दिनों "साधक की डायरी के पृष्ठ" "सुनसान के सहचर" आदि शीर्षकों से जो लेख "अखण्ड-ज्योति" पत्रिका में छपे, वे लोगों को बहुत रुचे । बात पुरानी हो गई पर अभी लोग उन्हें पढ़ने के लिए उत्सुक थे । सो इन लेखों को पुस्तकाकार में प्रकाशित कर देना उचित समझा गया । अस्तु यह पुस्तक प्रस्तुत है । घटनाक्रम अवश्य पुराना हो गया, पर उन दिनों जो विचार अनुभूतियाँ उठतीं, वे शाश्वत हैं । उनकी उपयोगिता में समय के पीछे पड़ जाने के कारण कुछ अन्तर नहीं आया है । आशा की जानी चाहिए भावनाशील अन्तःकरणों को वे अनुभूतियाँ अभी भी हमारी ही तरह स्पंदित कर सकेंगी और पुस्तक की उपयोगिता एवं सार्थकता सिद्ध हो सकेगी ।

एक विशेष लेख इसी संकलन में और है वह है-"हिमालय के हृदय का विवेचन-विश्लेषण ।" बद्रीनारायण से लेकर गंगोत्री के बीच का लगभग ४०० मील परिधि का वह स्थान है, जो प्रायः सभी देवताओं और ऋषियों का तप केन्द्र रहा है । इसे ही धरती का स्वर्ग कहा जा सकता है । स्वर्ग कथाओं के जो घटनाक्रम एवं व्यक्ति चरित्र जुड़े हैं, उनकी यदि इतिहास-भूगोल से संगति मिलाई जाये तो वे धरती पर ही सिद्ध होते हैं और उस बात में बहुत वजन मालूम पड़ता है, जिसमें इन्द्र के शासन एवं आर्ष-सभ्यता की संस्कृति का उद्‌गम स्थान हिमालय का उपरोक्त स्थान बताया गया है । अब वहाँ बर्फ बहुत पड़ने लगी है । ऋतु परिस्थितियों की शृंखला में अब वह हिमालय का हृदय असली उत्तराखण्ड इस योग्य नहीं रहा कि वहाँ आज के दुर्बल शरीरों वाला व्यक्ति निवास-स्थान बना सके । इसलिए आधुनिक उत्तराखण्ड नीचे चला गया और हरिद्वार से लेकर बद्रीनारायण, गंगोत्री, गोमुख तक ही उसकी परिधि सीमित हो गयी है ।

"हिमालय के हृदय" क्षेत्र में जहाँ प्राचीन स्वर्ग की विशेषता विद्यमान है, वहाँ तपस्याओं से प्रभावित शक्तिशाली आध्यात्मिक क्षेत्र भी विद्यमान है । हमारे मार्गदर्शक वहाँ रहकर प्राचीनतम ऋषियों की इस तप संस्कारित भूमि से अनुपम शक्ति प्राप्त करते हैं । कुछ समय के लिए हमें भी उस स्थान पर रहने का सौभाग्य मिला और वे दिव्य स्थान अपने भी देखने में आये । सो इनका जितना दर्शन हो सका, उसका वर्णन अखण्ड ज्योति में प्रस्तुत किया गया था । वह लेख भी अपने ढंग का अनोखा है । उससे संसार में एक ऐसे स्थान का पता चलता है, जिसे आत्म-शक्ति का ध्रुव कहा जा सकता है । धरती के उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुवों में विशेष शक्तियाँ हैं । अध्यात्म शक्ति का एक ध्रुव हमारी समझ में आया है । जिसमें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ भरी पड़ी हैं । सूक्ष्म शक्तियों की दृष्टि से भी और शरीरधारी सिद्ध पुरुषों की दृष्टि से भी ।

इस दिव्य केन्द्र की ओर लोगों का ध्यान बना रहे, इस दृष्टि से उसका परिचय तो रहना ही चाहिए, इस दृष्टि से उस जानकारी को मूल्यवान् ही कहा जा सकता है । ब्रह्मवर्चस्, शान्तिकुंज, गायत्री नगर का निर्माण उत्तराखण्ड के द्वार में करने का उद्देश्य यही रहा है । जो लोग यहाँ आते हैं, उनने असीम शान्ति प्राप्ति की है । भविष्य में उसका महत्त्व असाधारण होने जा रहा है । उन सम्भावनाओं को व्यक्त तो नहीं किया जा रहा है । अगले दिनों उनसे लोग चमत्कृत हुए बिना न रहेंगे ।

- श्रीराम शर्मा आचार्य

सुनसान के सहचर

हमारा अज्ञात वास और तप साधना का उद्देश्य

तप की शक्ति अपार है । जो कुछ अधिक से अधिक शक्ति सम्पन्न तत्त्व इस विश्व में है, उसका मूल "तप" में ही सन्निहित है । सूर्य तपता है, इसलिए ही वह समस्त विश्व को जीवन प्रदान करने लायक प्राण भण्डार का अधिपति है । ग्रीष्म की ऊष्मा से जब वायु मण्डल भली प्रकार तप लेता है तो मंगलमयी वर्षा होती है । सोना तपता है तो खरा, तेजस्वी और मूल्यवान् बनता है । जितनी भी धातुएँ हैं, वे सभी खान से निकलते समय दूषित, मिश्रित व दुर्बल होती हैं; पर जब उन्हें कई बार भट्ठियों में तपाया, पिघलाया और गलाया जाता है तो वे शुद्ध एवं मूल्यवान् बन जाती हैं । कच्ची मिट्टी के बने हुए कमजोर खिलौने और बर्तन जरा से आघात से टूट सकते हैं । तपाये और पकाये जाने पर मजबूत एवं रक्त वर्ण हो जाते हैं, कच्ची ईंट भट्टे में पकने पर पत्थर जैसी कड़ी हो जाती है । मामूली से कच्चे कंकड़ पकने पर चूना बनते हैं और उनके द्वारा बने हुए विशाल प्रासाद दीर्घकाल तक बने खड़े रहते हैं ।

मामूली-सा अभ्रक जब सौ बार अग्नि में तपाया जाता है तो चन्द्रोदय रस बनता है, अनेकों बार अग्नि संस्कार होने से ही धातुओं की मूल्यवान् भस्म रसायन बन जाती है और उनसे अशक्त एवं कष्ट साध्य रोगों से ग्रस्त रोगी पुनर्जीवन प्राप्त करते हैं । साधारण अन्न और दाल-साग कच्चे रूप में न तो सुपाच्य होते हैं और न स्वादिष्ट । वे ही अग्नि संस्कार से पकाये जाने पर सुरुचिपूर्ण व्यंजनों का रूप धारण करते हैं । धोबी की भट्टी में चढ़ने पर मैले-कुचैले कपड़े निर्मल एवं स्वच्छ बन जाते हैं । पेट की जठराग्नि द्वारा पकाया हुआ अन्न भी रक्त, अस्थि का रूप धारण कर हमारे शरीर का भाग बनता है । यदि वह अग्नि संस्कार की-तप की प्रक्रिया बन्द हो जाय तो निश्चित रूप से विकास का सारा काम बन्द हो जायेगा ।

प्रकृति तपती है, इसीलिए सृष्टि की सारी संचालन व्यवस्था चल

रही है। जीव तपता है, उसी से उसके अन्तराल में छिपे हुए पुरुषार्थ, पराक्रम, साहस, उल्लास, ज्ञान, विज्ञान, प्रकृति रत्नों की शृंखला प्रस्फुटित होती है। माता अपने अण्ड एवं भ्रूण को अपनी उदरस्थ ऊष्मा से पकाकर शिशु का प्रसव करती है। जिन जीवों ने मूर्छित स्थिति से ऊँचे उठने की, खाने-सोने से कुछ अधिक करने की आकांक्षा की है, उन्हें तप करना पड़ा है। संसार में अनेकों पुरुषार्थी-पराक्रमी इतिहास के पृष्ठों पर अपनी छाप छोड़ने वाले महापुरुष जो हुए हैं, उन्हें किसी न किसी रूप में अपने-अपने ढंग का तप करना पड़ा है। कृषक, विद्यार्थी, श्रमिक, वैज्ञानिक, शासक, विद्वान्, उद्योगी, कारीगर आदि सभी महत्त्वपूर्ण कार्य-भूमिकाओं का सम्पादन करने वाले व्यक्ति वे ही बन सके हैं, जिन्होंने कठोर श्रम, अध्यवसाय एवं तपश्चर्या की नीति को अपनाया है। यदि इन लोगों ने आलस्य, प्रमाद, अकर्मण्यता, शिथिलता एवं विलासिता की नीति अपनाई होती तो वे कदापि उस स्थान पर न पहुँच पाते, जो उन्होंने कष्ट-सहिष्णु एवं पुरुषार्थी बनकर उपलब्ध किया है।

पुरुषार्थों में आध्यात्मिक पुरुषार्थ का मूल्य और महत्त्व अधिक है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि सामान्य सम्पत्ति की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति सम्पदा की महत्ता अधिक है। धन, बुद्धि, बल आदि के आधार पर अनेक व्यक्ति, उन्नतिशील, सुखी एवं सम्मानित बनते हैं; पर उन सबसे अनेक गुना महत्त्व वे लोग प्राप्त करते हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक बल का संग्रह किया है। पीतल और सोने में, काँच और रत्न में जो अन्तर है, वही अन्तर सांसारिक सम्पत्ति एवं आध्यात्मिक सम्पदा के बीच में भी है। इस संसार में धनी, सेठ, अमीर, उमराव, गुणी, विद्वान् कलावन्त बहुत हैं, पर उनकी तुलना उन महान् आत्माओं के साथ नहीं हो सकती, जिनने अपने आध्यात्मिक पुरुषार्थ के द्वारा अपना ही नहीं संसार का हित साधन किया। प्राचीनकाल में भी सभी समझदार लोग अपने बच्चों को कष्ट-सहिष्णु अध्यवसायी, तितीक्षाशील एवं तपसी बनाने के लिए छोटी आयु में ही गुरुकुलों में भर्ती करते थे; ताकि आगे चलकर वे कठोर

जीवनयापन करने के अभ्यस्त होकर महापुरुषों की महानता के अधिकारी बन सकें ।

संसार में जब कभी कोई महान् कार्य सम्पन्न हुए हैं, तो उनके पीछे तपश्चर्या की शक्ति अवश्य रही है । हमारा देश देवताओं और नर-रत्नों का देश रहा है । यह भारत भूमि स्वर्गादपि गरीयसी कहलाती रही है । ज्ञान, पराक्रम और सम्पदा की दृष्टि से यह राष्ट्र सदा से विश्व का मुकुटमणि रहा है । उन्नति के इस उच्च शिखर पर पहुँचने का कारण यहाँ के निवासियों की प्रचण्ड तपनिष्ठा ही रही है । आलसी और विलासी, स्वार्थी और लोभी लोगों को यहाँ सदा घृणित एवं निकृष्ट माना जाता रहा है । तप शक्ति की महत्ता को यहाँ के निवासियों ने पहचाना, तत्त्वत: कार्य किया और उसके उपार्जन में पूरी तत्परता दिखाई, तभी यह सम्भव हो सका कि भारत को जगद्गुरु, चक्रवर्ती शासक एवं सम्पदाओं के स्वामी होने का इतना ऊँचा गौरव प्राप्त हुआ ।

पिछले इतिहास पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत का बहुमुखी विकास तपश्चर्या पर आधारित एवं अवलम्बित होता है । सृष्टि के उत्पन्नकर्त्ता प्रजापति ब्रह्मा ने सृष्टि निर्माण के पूर्व, विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पुष्प पर अवस्थित होकर, सौ वर्षों तक गायत्री उपासना के आधार पर तप किया, तभी उन्हें सृष्टि निर्माण एवं ज्ञान-विज्ञान के उत्पादन की शक्ति उपलब्ध हुई । मानव धर्म के आविष्कर्त्ता भगवान् मनु ने अपनी रानी शतरूपा के साथ प्रचण्ड तप करने के पश्चात् ही अपना महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वपूर्ण किया था, भगवान् शंकर स्वयं तप रूप हैं । उनका कार्यक्रम सदा से तप साधना ही रहा । शेषजी तप के बल पर ही इस पृथ्वी को अपने शीश पर धारण किये हैं । सप्त ऋषियों ने इसी मार्ग पर दीर्घकाल तक चलते रहकर वह सिद्धि प्राप्त की, जिससे सदा उनका नाम अजर-अमर रहेगा । देवताओं के गुरु बृहस्पति और असुरों के गुरु शुक्राचार्य अपने-अपने शिष्यों के कल्याण, मार्गदर्शन और सफलता की साधना अपनी तप शक्ति के आधार पर ही करते रहे हैं ।

नई सृष्टि रच डालने वाले विश्वामित्र की-रघुवंशी राजाओं की अनेक पीढ़ियों तक मार्गदर्शन करने वाले वशिष्ठ की क्षमता तथा साधना इसी में ही अन्तर्निहित थी । एक बार राजा विश्वामित्र वन में अपनी सेना को लेकर पहुँचे तो वशिष्ठ जी ने कुछ सामान न होने पर भी सारी सेना का समुचित आतिथ्य कर दिखाया तो विश्वामित्र दंग रह गये । किसी प्रसंग को लेकर जब निहत्थे वशिष्ठ और विशाल सेना सम्पन्न विश्वामित्र में युद्ध ठन गया, तो तपस्वी वशिष्ठ के सामने राजा विश्वामित्र को परास्त ही होना पड़ा । उन्होंने "धिक् बलं क्षत्रिय बलं ब्रह्म तेजो बलम्" की घोषणा करते हुए राजपाट छोड़ दिया और सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति की तपश्चर्या के लिए शेष जीवन समर्पित कर दिया ।

अपने नरकगामी पूर्व पुरुषों का उद्धार तथा प्यासी पृथ्वी को जलपूर्ण करके जन-समाज का कल्याण करने के लिए गंगावतरण की आवश्यकता थी । इस महान् उद्देश्य की पूर्ति लौकिक पुरुषार्थ से नहीं वरन् तप शक्ति से ही सम्भव थी । भगीरथ कठोर तप करने के लिए वन को गए और अपनी साधना से प्रभावित कर गंगाजी को भूलोक में लाने एवं शिवजी को अपनी जटाओं में धारण करने के लिए तैयार किया, यह कार्य साधारण प्रक्रिया से सम्पन्न न होता, तप ने ही उन्हें सम्भव बनाया ।

च्यवन ऋषि इतना कठोर दीर्घकालीन तप कर रहे थे कि उनके सारे शरीर पर दीमक ने अपना घर बना लिया था और उनका शरीर एक मिट्टी का टीला जैसा बन गया था । राजकुमारी सुकन्या को छेदों में दो चमकदार चीजें दीखीं और उनमें काँटे चुभो दिए । यह चमकदार चीजें और कुछ नहीं च्यवन ऋषि की आँखें थीं । च्यवन ऋषि को इतनी कठोर तपस्या इसलिए करनी पड़ी कि वे अपनी अन्तरात्मा में सन्निहित शक्ति केन्द्रों को जागृत करके परमात्मा के अक्षय शक्ति भण्डार में भागीदारी मिलने की अपनी योग्यता सिद्ध कर सकें ।

शुकदेवजी जन्म से साधनारत हो गये । उन्होंने मानव जीवन का एकमात्र सदुपयोग इसी में समझा कि इसका उपयोग आध्यात्मिक

प्रयोजनों में करके नर-तन जैसे सुरदुर्लभ सौभाग्य का सदुपयोग किया जाये। वे चकाचौंध पैदा करने वाले वासना एवं तृष्णाजन्य प्रलोभनों को दूर से नमस्कार करके ब्रह्मज्ञान की, ब्रह्मतत्त्व की उपलब्धि में संलग्न हो गये।

तपस्वी ध्रुव ने खोया कुछ नहीं, यदि वह साधारण राजकुमार की तरह मौज-शौक का जीवन यापन करता, तो समस्त ब्रह्माण्ड का केन्द्र बिन्दु ध्रुवतारा बनने और अपनी कीर्ति को अमर बनाने का लाभ उसे प्राप्त न हो सका होता। उस जीवन में भी उसे जितना विशाल राजपाट मिला, उतना किसी की अधिक से अधिक कृपा प्राप्त होने पर भी उसे उपलब्ध न हुआ होता। पृथ्वी पर बिखरे हुए अन्न कणों को बीनकर अपना निर्वाह करने वाले कणाद ऋषि,वट वृक्ष के दूध पर गुजारा करने वाले वाल्मीकि ऋषि भौतिक विलासिता से वंचित रहे, पर इसके बदले में जो कुछ पाया, वह बड़ी से बड़ी सम्पदा से कम न था।

भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर ने अपने काल में लोक की दुर्गति को मिटाने के लिए तपस्या को ही ब्रह्मास्त्र के रूप में प्रयोग किया। व्यापक हिंसा और असुरता के वातावरण को दया अहिंसा के रूप में परिवर्तित कर दिया। दुष्टता को हटाने के लिए यों अस्त्र-शस्त्रों का-दण्ड-दमन का मार्ग सरल समझा जाता है; पर वह भी सेना एवं आयुधों की सहायता से उतना नहीं हो सकता, जितना तपोबल से। अत्याचारी शासकों का पृथ्वी से उन्मूलन करने के लिए परशुराम जी का फरसा अभूतपूर्व अस्त्र सिद्ध हुआ। उसी से उन्होंने सेना के बड़े-बड़े सामन्तों से, सुसज्जित राजाओं को परास्त कर २१ बार पृथ्वी को राजाओं से रहित कर दिया। अगस्त का कोप बेचारा समुद्र क्या सहन करता? उन्होंने तीन चुल्लुओं में सारे समुद्र को उदरस्थ कर लिया। देवता जब किसी प्रकार असुरों को परास्त न कर सके, लगातार हारते ही गये तो तपस्वी दधीचि की तेजस्वी हड्डियों का वज्र प्राप्त कर इन्द्र ने देवताओं की नाव को पार लगाया।

प्राचीनकाल में विद्या का अधिकारी वही माना जाता था, जिसमें तितीक्षा एवं कष्ट सहिष्णुता की क्षमता होती थी, ऐसे ही लोगों के हाथ में पहुँचकर विद्या उसका व समस्त संसार का कल्याण करती थी । आज विलासी और लोभी प्रवृत्ति के लोगों को ही विद्या सुलभ हो गई । फलस्वरूप वे उसका दुरुपयोग भी खूब कर रहे हैं । हम देखते हैं कि अशिक्षितों की, अपेक्षा सुशिक्षित ही मानवता से अधिक दूर हैं और वे विभिन्न प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न करके संसार की सुख-शान्ति के लिए अभिशाप बने हुए हैं। प्राचीनकाल में प्रत्येक अभिभावक अपने बालकों को तपस्वी मनोवृत्ति का बनाने के लिए उन्हें गुरुकुलों में भेजता था और गुरुकुलों के संचालक बहुत-बहुत समय तक बालकों में कष्ट सहिष्णुता जागृत करते थे और जो इस प्रारम्भिक परीक्षा में सफल होते थे, उन्हें ही परीक्षाधिकारी मानकर विद्या-दान करते थे । उद्दालक, आरुणि आदि अगणित छात्रों को कठोर परीक्षाओं में से गुजरना पड़ा था । इसका वृत्तान्त सभी को मालूम है ।

ब्रह्मचर्य को तप का प्रधान अंग माना गया है । बजरंगी हनुमान, बाल ब्रह्मचारी भीष्म पितामह के पराक्रमों से हम सभी परिचित हैं । शंकराचार्य, दयानन्द प्रभृति अनेकों महापुरुष अपने ब्रह्मचर्य व्रत के आधार पर ही संसार की महान् सेवा कर सके । प्राचीनकाल में ऐसे अनेकों गृहस्थ होते थे, जो विवाह होने पर भी अपनी पत्नी के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करते थे ।

आत्मबल प्राप्त करके तपस्वी लोग उस तपबल से न केवल अपना आत्म-कल्याण करते थे वरन् अपनी थोड़ी-सी शक्ति शिष्यों को देकर उनको भी महान् पुरुष बना देते थे । विश्वामित्र के आश्रम में रहकर रामचन्द्रजी का, संदीपन ऋषि के गुरुकुल में पढ़कर कृष्णचन्द्रजी का ऐसा निर्माण हुआ कि भगवान् ही कहलाये । समर्थ गुरु रामदास के चरणों में बैठकर एक मामूली सा मराठा बालक छत्रपति शिवाजी बना । रामकृष्ण परमहंस से शक्ति कण पाकर नास्तिक नरेन्द्र संसार का श्रेष्ठ

धर्म प्रचारक विवेकानन्द कहलाया । प्राण रक्षा के लिए मारे-मारे फिरते हुए इन्द्र को महर्षि दधीचि ने अपनी हड्डियाँ देकर उसे निर्भय बनाया । नारद का जरा-सा उपदेश पाकर डाकू वाल्मीकि महर्षि बन गया ।

उत्तम सन्तान प्राप्त करने के अभिलाषी भी तपस्वियों के अनुग्रह से सौभाग्यान्वित हुए हैं । शृंगी ऋषि द्वारा आयोजित पुत्रेष्टि यज्ञ के द्वारा तीन विवाह कर लेने पर भी संतान न होने पर राजा दशरथ को चार पुत्र प्राप्त हुए । राजा दिलीप ने चिरकाल तक अपनी रानी समेत वशिष्ठ के आश्रम में रहकर गौ चराकर जो अनुग्रह प्राप्त किया, उसके फलस्वरूप ही डूबता वंश चला, पुत्र प्राप्त हुआ । पाण्डु जब सन्तानोत्पादन में असमर्थ रहे तो व्यास जी के अनुग्रह से प्रतापी पाँच पाण्डव उत्पन्न हुए । श्री जवाहर लाल नेहरू के बारे में कहा गया है कि उनके पिता श्री मोतीलाल नेहरू जब चिरकाल तक सन्तान से वंचित रहे तो इनकी चिन्ता दूर करने के लिए हिमालय निवासी एक तपस्वी ने अपना शरीर त्यागा और उनका मनोरथ पूर्ण किया । अनेकों ऋषिकुमार अपने माता-पिता का प्रचण्ड अध्यात्म बल जन्म से ही साथ लेकर पैदा होते थे और वे बालकपन में ही वह कार्य कर लेते थे, जो बड़ों के लिए कठिन होते हैं । लोमश ऋषि के पुत्र शृंगी ऋषि ने राजा परीक्षित द्वारा अपने पिता के गले में सर्प डाला जाता देखकर क्रोध से शाप दिया कि सात दिन में कुकृत्य करने वाले को सर्प काट लेगा । परीक्षित की सुरक्षा के भारी प्रयत्न किये जाने पर भी सर्प से काटे जाने का ऋषि कुमार का शाप सत्य होकर ही रहा ।

शाप और वरदानों के आश्चर्यजनक परिणामों की चर्चा से हमारे प्राचीन इतिहास के पृष्ठ भरे पड़े हैं । श्रवणकुमार को तीर मारने के दण्ड स्वरूप उसके पिता ने राजा दशरथ को शाप दिया था कि वह भी पुत्र शोक में इसी प्रकार विलख-विलख कर मरेगा । तपस्वी के मुख से निकला हुआ वचन असत्य नहीं हो सकता था, दशरथ को उसी प्रकार मरना पड़ा था । गौतम ऋषि के शाप से इन्द्र और चन्द्रमा जैसे देवताओं

की दुर्गति हुई । राजा सगर के दस हजार पुत्रों को कपिल के क्रोध करने के फलस्वरूप जलकर भस्म होना पड़ा । प्रसन्न होने पर देवताओं की भाँति तपस्वी ऋषि भी वरदान प्रदान करते थे और दुःख दारिद्र से पीड़ित अनेकों व्यक्ति सुख-शान्ति के अवसर प्राप्त करते थे ।

पुरुष ही नहीं, तप साधना के क्षेत्र में भारत की महिलाएँ भी पीछे न थीं। पार्वती ने प्रचण्ड तप करके मदन-दहन करने वाले समाधिस्थ शंकर को विवाह करने के लिए विवश किया। अनुसूया ने अपनी आत्म शक्ति से ब्रह्मा, विष्णु और महेश को नन्हें-नन्हें बालकों के रूप में परिणत कर दिया । सुकन्या ने अपने वृद्ध पति को युवा बनाया। सावित्री ने यम से संघर्ष करके अपने मृतक पति के प्राण लौटाये । कुन्ती ने सूर्य तप करके कुमारी अवस्था में सूर्य के समान तेजस्वी कर्ण को जन्म दिया। क्रुद्ध गान्धारी ने कृष्ण को शाप दिया कि जिस प्रकार मेरे कुल का नाश किया है, वैसे ही तेरा कुल इसी प्रकार परस्पर संघर्ष में नष्ट होगा । उसके वचन मिथ्या नहीं गये । सारे यादव आपस में ही लड़कर नष्ट हो गए। दमयन्ती के शाप से व्याध को जीवित ही जल जाना पड़ा । इड़ा ने अपने पिता मनु का यज्ञ सम्पन्न कराया और उनके अभीष्ट प्रयोजन को पूरा करने में सहायता की । इन आश्चर्यजनक कार्यों के पीछे उनकी तप शक्ति की महिमा प्रत्यक्ष है ।

देवताओं और ऋषियों की भाँति ही असुर भी यह भली-भाँति जानते थे कि तप में ही शक्ति की वास्तविकता केन्द्रित है। उनने भी प्रचण्ड तप किया और वरदान प्राप्त किए, जो सुर पक्ष के तपस्वी भी प्राप्त न कर सके थे। रावण ने अनेकों बार सिर का सौदा करने वाली तप साधना की और शंकरजी को इंगित करके अजेय शक्तियों का भण्डार प्राप्त किया । कुम्भकरण ने तप द्वारा ही छः-छः महीने सोने-जागने का अद्‌भुत वरदान पाया था । मेघनाथ, अहिरावण और मारीचि को विभिन्न मायावी शक्तियाँ भी उन्हें तप द्वारा मिली थीं । भस्मासुर ने सिर पर हाथ रखने से किसी को भी जला देने की शक्ति तप करके ही प्राप्त की थी ।

हिरण्यकश्यप, हिरण्याक्ष, सहस्रबाहु, बालि आदि असुरों के पराक्रम का भी मूल आधार तप ही था । विश्वामित्र और राम के लिए सिर दर्द बनी हुई ताड़का, श्रीकृष्ण चन्द्र के प्राण लेने का संकल्प करने वाली पूतना, हनुमान को निगल जाने में समर्थ सुरसा, सीता को नाना प्रकार के कौतूहल दिखाने वाली त्रिजटा आदि अनेकों असुर नारियाँ भी ऐसी थीं, जिनने आध्यात्मिक क्षेत्र में अच्छा खासा परिचय दिया ।

इस प्रकार के दस-बीस नहीं हजारों-लाखों प्रसंग भारतीय इतिहास में मौजूद हैं, जिनने तप शक्ति के लाभों से लाभान्वित होकर साधारण नर तनधारी जनों ने विश्व को चमत्कृत कर देने वाले स्व-पर कल्याण के महान् आयोजन पूर्ण करने वाले उदाहरण उपस्थित किए हैं । इस युग में महात्मा गाँधी, सन्त बिनोवा, ऋषि दयानन्द, मीरा, कबीर, दादू, तुलसीदास, सूरदास, रैदास, अरविन्द, महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ आदि आत्मबल सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा जो कार्य किए गए हैं, वे साधारण भौतिक पुरुषार्थी द्वारा पूरे किए जाने पर सम्भव न थे । हमने भी अपने जीवन के आरम्भ से ही यह तपश्चर्या का कार्य अपनाया है । २४ महापुरश्चरणों के कठिन तप द्वारा उपलब्ध शक्ति का उपयोग हमने लोक-कल्याण में किया है । फलस्वरूप अगणित व्यक्ति हमारी सहायता से भौतिक उन्नति एवं आध्यात्मिक प्रगति की उच्च कक्षा तक पहुँचे हैं । अनेकों को भारी व्यथा व्याधियों से, चिन्ता परेशानियों से छुटकारा मिला है । साथ ही धर्म जागृति एवं नैतिक पुनरुत्थान की दिशा में आशाजनक कार्य हुआ है । २४ लक्ष गायत्री उपासकों का निर्माण एवं २४ हजार कुण्डों के यज्ञों का संकल्प इतना महान् था कि सैकड़ों व्यक्ति मिलकर कई जन्मों में भी पूर्ण नहीं कर सकते थे; किन्तु यह सब कार्य कुछ ही दिनों में बड़े आनन्द पूर्वक पूर्ण हो गए । गायत्री तपोभूमि का-गायत्री परिवार का निर्माण एवं वेद भाष्य का प्रकाशन ऐसे कार्य हैं, जिनके पीछे साधना-तपश्चर्या का प्रकाश झाँक रहा है ।

आगे और भी प्रचण्ड तप करने का निश्चय किया है और भावी

जीवन को तप-साधना में ही लगा देने का निश्चय किया है तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है । हम तप का महत्त्व समझ चुके हैं कि संसार के बड़े से बड़े पराक्रम और पुरुषार्थ एवं उपार्जन की तुलना में तप साधना का मूल्य अत्यधिक है । जौहरी काँच को फेंक, रत्न की साज-सम्भाल करता है । हमने भी भौतिक सुखों को लात मार कर यदि तप की सम्पत्ति एकत्रित करने का निश्चय किया है तो उससे मोहग्रस्त परिजन भले ही खिन्न होते रहें वस्तुतः उस निश्चय में दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता ही ओत-प्रोत है ।

राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिक दोनों मिलकर इन दिनों जो रचना कर रहे है, वह केवल आग लगाने वाली, नाश करने वाली ही है । ऐसे हथियार तो बन रहे हैं, जो विपक्षी देशों को तहस-नहस करके अपनी विजय पताका गर्वपूर्वक फहरा सकें; पर ऐसे अस्त्र कोई नहीं बना पा रहा है, जो लगाई आग को बुझा सके, आग लगाने वालों के हाथ को कुंठित कर सके और जिनके दिलों व दिमागों में नृशंसता की भट्टी जलती है, उनमें शान्ति एवं सौभाग्य की सरसता प्रवाहित कर सके । ऐसे शान्ति शस्त्रों का निर्माण राजधानियों में, वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में नहीं हो सकता है । प्राचीनकाल में जब भी इस प्रकार की आवश्यकता अनुभव हुई है, तब तपोवनों की प्रयोगशाला में तप साधना के महान् प्रयत्नों द्वारा ही शान्ति शस्त्र तैयार किये गये हैं । वर्तमान काल में अनेक महान् आत्माएँ इसी प्रयत्न के लिए अग्रसर हुई हैं ।

संसार को, मानव जाति को सुखी और समुन्नत बनाने के लिए अनेक प्रयत्न हो रहे हैं । उद्योग-धन्धे, कल-कारखाने, रेल, तार, सड़क, बाँध, स्कूल, अस्पतालों आदि का बहुत कुछ निर्माण कार्य चल रहा है । इससे गरीबी और बीमारी, अशिक्षा और असभ्यता का बहुत कुछ समाधान होने की आशा की जाती है; पर मानव अन्तःकरणों में प्रेम और आत्मीयता का, स्नेह और सौजन्य का, आस्तिकता और धार्मिकता का, सेवा और संयम का निर्झर प्रवाहित किए बिना, विश्व शान्ति की दिशा

में कोई कार्य न हो सकेगा । जब तक सन्मार्ग की प्रेरणा देने वाले गाँधी, दयानन्द, शंकराचार्य, बुद्ध, महावीर, नारद, व्यास जैसे आत्मबल सम्पन्न मार्गदर्शक न हों, तब तक लोक मानस को ऊँचा उठाने के प्रयत्न सफल न होगें । लोक मानस को ऊँचा उठाए, बिना पवित्र आदर्शवादी भावनाएँ उत्पन्न किये बिना, लोक की गतिविधियाँ ईर्ष्या-द्वेष, शोषण, अपहरण, आलस्य, प्रमाद, व्यभिचार, पाप से रहित न होंगी, तब तक क्लेश और कलह से, रोग और दारिद्र से कदापि छुटकारा न मिलेगा ।

लोक मानस को पवित्र, सात्विक एवं मानवता के अनुरूप, नैतिकता से परिपूर्ण बनाने के लिए जिन सूक्ष्म आध्यात्मिक तरंगों को प्रवाहित किया जाना आवश्यक है, वे उच्चकोटि की आत्माओं द्वारा विशेष तप साधन से ही उत्पन्न होंगी । मानवता की, धर्म और संस्कृति की यही सबसे बड़ी सेवा है । आज इन प्रयत्नों की तुरन्त आवश्यकता अनुभव की जाती है, क्योंकि जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, असुरता का पलड़ा अधिक भारी होता जाता है, देरी करने में अति और अनिष्ट की अधिक सम्भावना हो सकती है ।

समय की इसी पुकार ने हमें वर्तमान कदम उठाने को बाध्य किया । यों जबसे यज्ञोपवीत संस्कार संपन्न हुआ, ६ घण्टे की नियमित गायत्री उपासना का क्रम चलता रहा है; पर बड़े उद्देश्यों के लिए जिस सघन साधना और प्रचंड तपोबल की आवश्यकता होती है, उसके लिए यह आवश्यक हो गया कि १ वर्ष ऋषियों की तपोभूमि हिमालय में रहा और प्रयोजनीय तप सफल किया जाय । इस तप साधना का कोई वैयक्तिक उद्देश्य नहीं । स्वर्ग और मुक्ति की न कभी कामना रही और न रहेगी । अनेक बार जल लेकर मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा का संकल्प लिया है, फिर पलायनवादी कल्पनाएँ क्यों करें । विश्व हित ही अपना हित है । इस लक्ष्य को लेकर तप की अधिक उग्र अग्नि में अपने को तपाने का वर्तमान कदम उठाया है ।

हिमालय में प्रवेश

मृत्यु सी भयानक सँकरी पगडण्डी

आज बहुत दूर तक विकट रास्ते से चलना पड़ा। नीचे गंगा बह रही थी, ऊपर पहाड़ खड़ा था। पहाड़ के निचले भाग में होकर चलने की सँकरी सी पगडण्डी थी। उसकी चौड़ाई मुश्किल से तीन फुट रही होगी। उसी पर होकर चलना था। पैर भी इधर-उधर हो जाय तो नीचे गरजती हुई गंगा के गर्भ में जल समाधि लेने में कुछ देर न थी। जरा बचकर चले, तो दूसरी ओर सैकड़ों फुट ऊँचा पर्वत सीधा तना खड़ा था। यह एक इंच भी अपनी जगह से हटने को तैयार न था। सँकरी सी पगडग्डी पर सँभाल-सँभाल कर एक-एक कदम रखना पड़ता था; क्योंकि जीवन और मृत्यु के बीच एक डेढ़ फुट का अन्तर था।

मृत्यु का डर कैसा होता है उसका अनुभव जीवन में पहली बार हुआ। एक पौराणिक कथा सुनी थी कि राजा जनक ने शुकदेव जी को अपने कर्मयोगी होने की स्थिति समझाने के लिए तेल का भरा कटोरा हाथ में देकर नगर के चारों ओर भ्रमण करते हुए वापिस आने को कहा और साथ ही कह दिया था कि यदि एक बूँद भी तेल फैला तो वहीं गरदन काट दी जायेगी। शुकदेव जी मृत्यु के डर से कटोरे से तेल न फैलने की सावधानी रखते हुए चले। सारा भ्रमण कर लिया पर उन्हें तेल के अतिरिक्त और कुछ न दिखा। जनक ने तब उनसे कहा, कि जिस प्रकार मृत्यु के भय ने तेल की बूँद भी न फैलने दी और सारा ध्यान कटोरे पर ही रखा, उसी प्रकार मैं भी मृत्यु भय को सदा ध्यान में रखता हूँ, जिससे किसी कर्तव्य कर्म में न तो प्रमाद होता और न मन व्यर्थ की बातों में भटक कर चंचल होता है।

इस कथा का स्पष्ट और व्यक्तिगत अनुभव आज उस सँकरे विकट रास्ते को पार करते हुए किया। हम लोग कई पथिक साथ थे। वैसे खूब हँसते-बोलते चलते थे; पर जहाँ वह सँकरी पगडण्डी आई कि सभी चुप

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

वन्दनीया माता भगवती देवी शर्मा
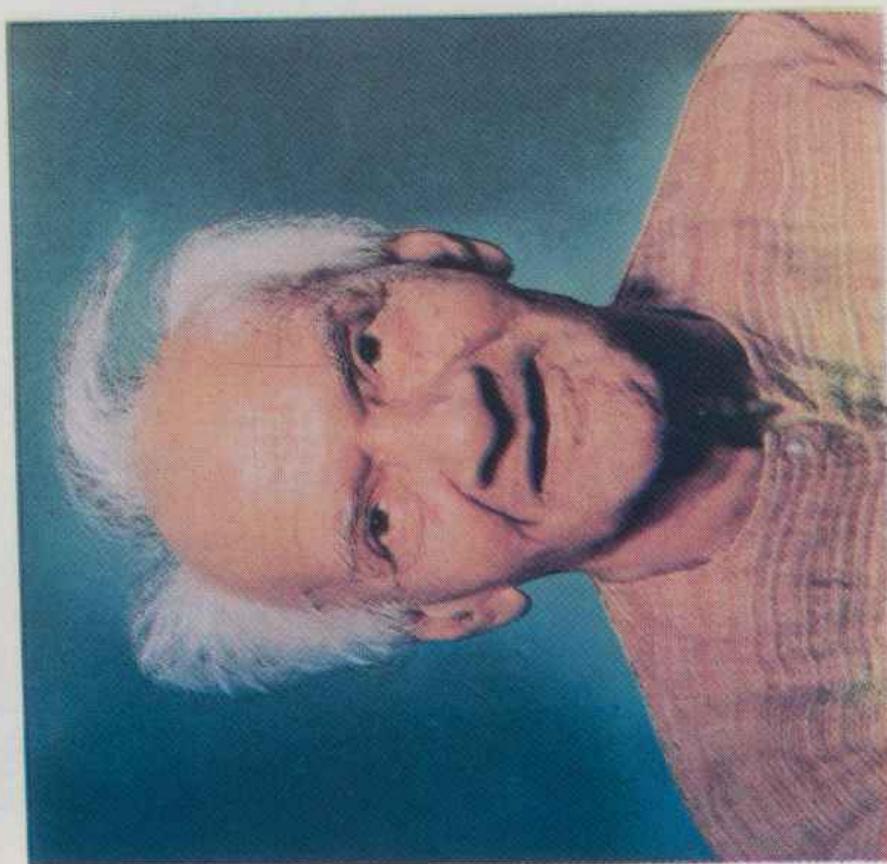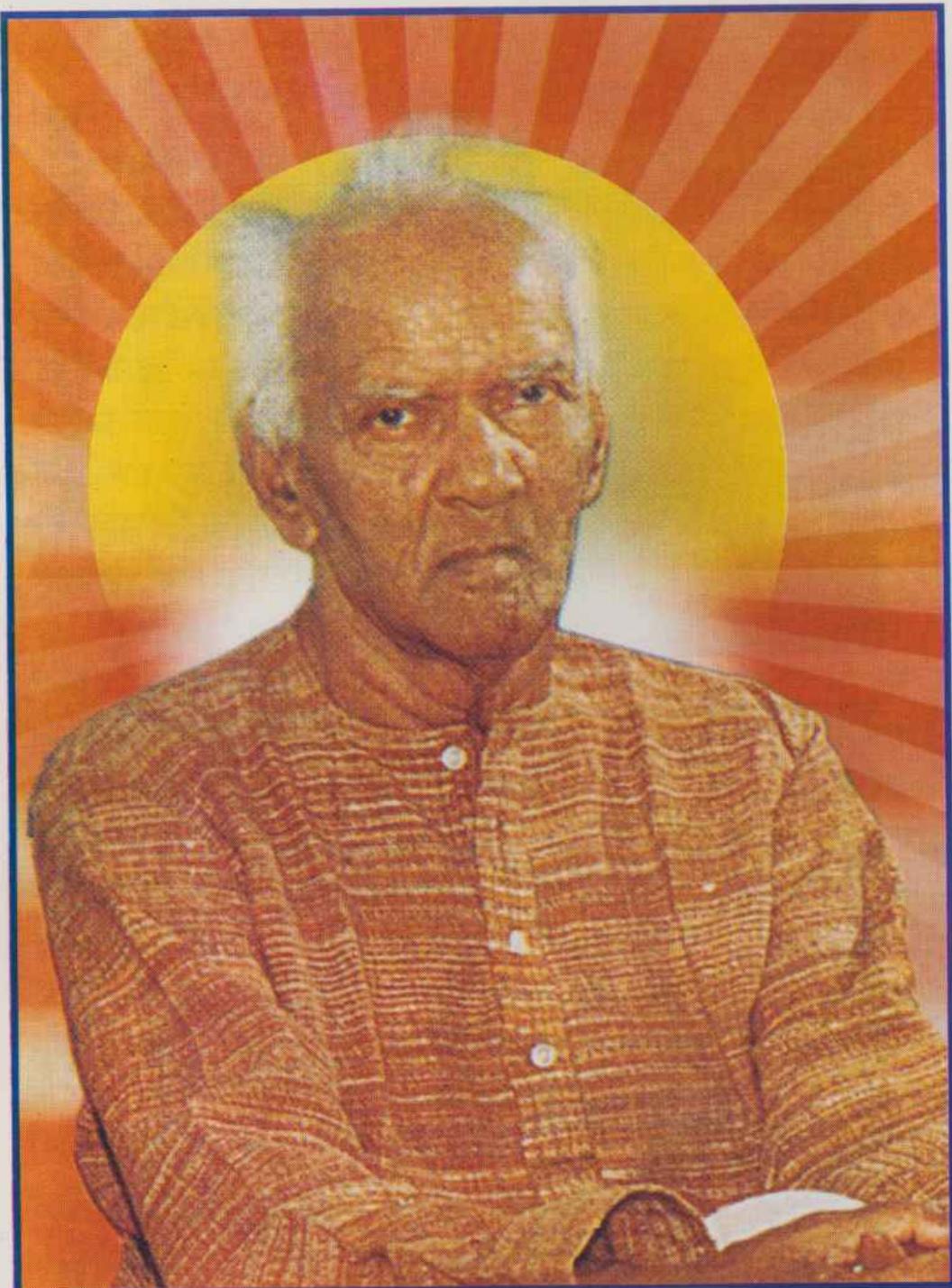
सुनसान के पथिक इस पुस्तक के लेखक परम पूज्य गुरुदेव

हो गए। बातचीत के सभी विषय समाप्त थे, न किसी को घर की याद आ रही थी और न किसी अन्य विषय पर ध्यान था। चित्त पूर्ण एकाग्र था और केवल् यही एक प्रश्न पूरे मनोयोग के साथ चल रहा था कि अगला पैर ठीक जगह पर पड़े । एक हाथ से हम लोग पहाड़ को पकड़ते चलते थे, यद्यपि उसमें पकड़ने जैसी कोई चीज नहीं थी, तो भी इस आशा से कि यदि शरीर की झोंक गंगा की तरफ झुकी तो संतुलन को ठीक रखने में पहाड़ को पकड़-पकड़ कर चलने का उपक्रम कुछ न कुछ सहायक होगा । इन डेढ़-दो मील की यह यात्रा बड़ी कठिनाई के साथ पूरी की । दिल हर घड़ी धड़कता रहा । जीवन को बचाने के लिए कितनी सावधानी की आवश्यकता है-यह पाठ क्रियात्मक रूप से आज ही पढ़ा।

यह विकट यात्रा पूरी हो गई, पर अब भी कई विचार उसके स्मरण के साथ-साथ उठ रहे हैं । सोचता हूँ यदि हम सदा मृत्यु को निकट ही देखते रहें, तो व्यर्थ की बातों पर मन दौड़ाने वाले मृग तृष्णाओं से बच सकते हैं । जीवन लक्ष्य की यात्रा भी हमारी आज की यात्रा के समान ही है, जिसमें हर कदम साध-साधकर रखा जाना जरूरी है । यदि एक भी कदम गलत या गफलत भरा उठ जाय, तो मानव जीवन के महान् लक्ष्य से पतित होकर हम एक अथाह गर्त में गिर सकते हैं। जीवन से हमें प्यार है, तो प्यार को चरितार्थ करने का एक ही तरीका है कि सही तरीके से अपने को चलाते हुए इस सँकरी पगडण्डी से पार ले चलें, जहाँ से शान्तिपूर्ण यात्रा पर चल पड़े । मनुष्य जीवन ऐसा ही उत्तरदायित्वपूर्ण है, जैसा उस गंगा तट की खड़ी पगडण्डी पर चलने वालों का । उसे ठीक तरह निवाह देने पर ही सन्तोष की साँस ले सके और यह आशा कर सके कि उस अभीष्ट तीर्थ के दर्शन कर सकेंगे । कर्तव्य पालन की पगडण्डी ऐसी सँकरी है; उसमें लापरवाही बरतने पर जीवन लक्ष्य के प्राप्त होने की आशा कौन कर सकता है ? धर्म के पहाड़ की दीवार की तरह पकड़कर चलने पर हम अपना यह सन्तुलन बनाये रह सकते हैं, जिससे खतरे की ओर झुक पड़ने का भय कम हो जाय। आड़े वक्त में

इस दीवार का सहारा ही हमारे लिए बहुत कुछ है । धर्म की आस्था भी लक्ष्य की मंजिल को ठीक तरह पार कराने में बहुत कुछ सहायक मानी जायेगी ।

चाँदी के पहाड़

आज सुक्की चट्टी पर धर्मशाला के ऊपर की मंजिल की कोठरी में ठहरे थे, सामने ही बर्फ से ढकी पर्वत की चोटी दिखाई पड़ रही थी । बर्फ पिघल कर धीरे-धीरे पानी का रूप धारण कर रही थी, वह झरने के रूप में नीचे की तरफ बह रही थी । कुछ बर्फ पूरी तरह गलने से पहले ही पानी के साथ मिलकर बहने लगती थी, इसलिए दूर से झरना ऐसा लगता था, मानो फेनदार दूध ऊपर बढ़ता चला आ रहा हो । दृश्य बहुत ही शोभायमान था, देखकर आँखें ठण्डी हो रही थीं ।

जिस कोठरी में अपना ठहरना था, उससे तीसरी कोठी में अन्य यात्री ठहरे हुए थे, उनमें दो बच्चे भी थे । एक लड़की-दूसरा लड़का,दोनों की उम्र ११-१२ वर्ष के लगभग रही होगी, उनके माता-पिता यात्रा पर थे । इन बच्चों को कुलियों की पीठ पर इस प्रान्त में चलने वाली "कन्द्री" सवारी में बिठाकर लाये थे, बच्चे हँसमुख और बातूनी थे ।

दोनों में बहस हो रही थी कि यह सफेद चमकता हुआ पहाड़ किस चीज का है । उनने कहीं सुन रखा था कि धातुओं की खानें पहाड़ों में होती है । बच्चों ने संगति मिलाई कि पहाड़ चाँदी का है । लड़की को इसमें सन्देह हुआ, वह यह तो न सोच सकी कि चाँदी का न होगा तो और किस चीज का होगा, पर यह जरूर सोचा कि इतनी चाँदी इस प्रकार खुली पड़ी होती तो कोई न कोई उसे उठा ले जाने की कोशिश जरूर करता । वह लड़के की बात से सहमत नहीं हुई और जिद्दा-जिद्दी चल पड़ी ।

मुझे विवाद मनोरंजक लगा, बच्चे भी प्यारे लगे । दोनों को बुलाया और समझाया कि यह पहाड़ तो पत्थर का है; पर ऊँचा होने के कारण

बर्फ जम गई है । गर्मी पड़ने पर यह बर्फ पिघल जाती है और सर्दी पड़ने पर जमने लगती है, वह बर्फ ही चमकने पर चाँदी जैसी लगती है । बच्चों का एक समाधान तो हो गया; पर वे उसी सिलसिले में ढेरों प्रश्न पूछते गये, मैं भी उनके ज्ञान-वृद्धि की दृष्टि से पर्वतीय जानकारी से सम्बन्धित बहुत-सी बातें उन्हें बताता रहा ।

सोचता हूँ, बचपन में मनुष्य की बुद्धि कितनी अविकसित होती है कि वह बर्फ जैसी मामूली चीज को चाँदी जैसी मूल्यवान् समझता है । बड़े आदमी की सूझ-बूझ ऐसी नहीं होती, वह वस्तुस्थिति को गहराई से सोच और समझ सकता है । यदि छोटेपन में ही इतनी समझ आ जाय तो बच्चों को भी यथार्थता को पहचानने में कितनी सुविधा हो ।

पर मेरा यह सोचना भी गलत ही है, क्योंकि बड़े होने पर भी मनुष्य समझदार कहाँ हो पाता है । जैसे ये दोनों बच्चे बर्फ को चाँदी समझ रहे थे, उसी प्रकार चाँदी-ताँबे के टुकड़ों को इन्द्रिय छेदों पर मचने वाली खुजली को, नगण्य अहंकार को, तुच्छ शरीर को बड़ी आयु का मनुष्य भी न जाने कितना अधिक महत्त्व दे डालता है और उसकी ओर इतना आकर्षित होता है कि जीवन लक्ष्य को भुलाकर भविष्य को अन्धकारमय बना लेने की परवाह नहीं करता ।

सांसारिक क्षणिक और सारहीन आकर्षणों में हमारा मन उनसे भी अधिक तल्लीन हो जाता है जितना कि छोटे बच्चों का मिट्टी के खिलौने के साथ खेलने में, कागज की नाव बहाने में लगता है । पढ़ना-लिखना, खाना-पीना छोड़कर पतंग उड़ाने में निमग्न बालक को अभिभावक उसकी अदूरदर्शिता पर धमकाते हैं, पर हम बड़ी आयु वालों को कौन धमकाए ? जो आत्म स्वार्थ को भुलाकर विषय विकारों के इशारे पर नाचने वाली कठपुतली बने हुए हैं । बर्फ चाँदी नहीं है, यह बात मानने में इन बच्चों का समाधान हो गया था, पर तृष्णा और वासना जीवन लक्ष्य नहीं है, हमारी इस भ्रांति का कौन समाधान करे ?

पीली मक्खियाँ

आज हम लोग सघन वन में होकर चुपचाप चले जा रहे थे, तो सेव के पेड़ों पर भिनभिनाती फिरने वाली पीली मक्खियाँ हम लोगों पर टूट पड़ीं, बुरी तरह चिपट गईं, छुटाने से भी न छूटती थीं। हाथों से, कपड़ों से उन्हें हटाया भी, भागे भी, पर उन्होंने देर तक पीछा किया। किसी प्रकार गिरते-पड़ते लगभग आधा मील आगे निकल गये, तब उनसे पीछा छूटा। उनके जहरीले डंक जहाँ लगे थे, सूजन आ गई, दर्द भी होता रहा।

सोचता हूँ इन मक्खियों को इस प्रकार आक्रमण करने की क्यों सूझी, क्या इनको इसमें कुछ मिल गया है, हमें सताकर इनने क्या पाया ? लगता है। यह मक्खियाँ सोचती होंगी कि यह वनप्रदेश हमारा है, हमें यहाँ रहना चाहिए। हमारे लिए यह सुरक्षित प्रदेश रहे, कोई दूसरा इधर पदार्पण न करे। उनकी अपनी भावना के विपरीत हमें उधर से गुजरते देखा कि यह हमारे प्रदेश में हस्तक्षेप करते हैं, हमारे अधिकार क्षेत्र में अपना अधिकार चलाते हैं। हमारे उधर से गुजरने को सम्भव है, उनने ढीठता समझा हो और अपने बल एवं दर्प का प्रदर्शन करने एवं हस्तक्षेप का मजा चखाने के लिए आक्रमण किया हो।

यदि ऐसी ही बात है, तो इन मक्खियों की मूर्खता थी। वह वन तो ईश्वर का बनाया हुआ था, कुछ उनने स्वयं थोड़े ही बनाया था। उन्हें तो पेड़ों पर रहकर अपनी गुजर-बसर करनी चाहिए थी। सारे प्रदेश पर कब्जा करने की उनकी लालसा व्यर्थ थी, क्योंकि वे इतने बड़े प्रदेश का आखिर करतीं क्या ? फिर उन्हें सोचना चाहिए था कि यह साझे की दुनियाँ है, सभी लोग उसका मिल-जुलकर उपयोग करें, तो ही ठीक है। यदि हम लोग उधर से निकल रहे थे, उस वनश्री की छाया-शोभा और सुगन्ध का लाभ उठा रहे थे, तो थोड़ा भी उठा लेने-देने की सहिष्णुता

रखतीं । उनने अनुदारता करके हमें काटा, सताया, अपने डंक खोये, कोई-कोई तो इस झंझट में कुचल भी गयीं, घायल भी हुईं और मर भी गईं । वे क्रोध और गर्व न दिखातीं, तो क्यों उन्हें व्यर्थ की हानि उठानी पड़ती और क्यों हम सबकी दृष्टि में मूर्ख और स्वार्थी सिद्ध होतीं । हर दृष्टि से इस आक्रमण और अधिकार लिप्सा में मुझे कोई बुद्धिमानी दिखाई न दी, यह "पीली मक्खियाँ" सचमुच ही ठीक शब्द था ।

पर इन बेचारी मक्खियों को ही क्यों कोसा जाये ? उन्हीं को मूर्ख क्यों कहा जाये ? जबकि आज हम मनुष्य भी इसी रास्ते पर चल रहे हैं । इस सृष्टि में जो विपुल उपभोग सामग्री परमात्मा ने पैदा की है, वह उसके सभी पुत्रों के लिए मिलकर-बाँटकर खाने और लाभ उठाने के लिए है, पर हममें से हर कोई जितना हड़प सके, उतने पर कब्जा जमाने के लिए उतावला हो रहा है । यह भी नहीं सोचा जाता कि शरीर की, कुटुम्ब की आवश्यकता थोड़ी ही है, उतने तक सीमित रहें, आवश्यकता से अधिक वस्तुओं पर कब्जा जमाकर दूसरों को क्यों कठिनाई में डालें और क्यों मालिकी का व्यर्थ बोझ सिर पर लादें, जबकि उस मालिकी को देर तक अपने कब्जे में रख नहीं सकते ।

पीली मक्खियों की तरह मनुष्य भी अधिकार लिप्सा के स्वार्थ और संग्रह में अन्धा हो रहा है । मिल-बाँटकर खाने की नीति उसकी समझ में ही नहीं आती, जो कोई उसे अपने स्वार्थ में बाधक होते दीखता है, उसी पर आँखें दिखाता है, अपनी शक्ति प्रदर्शित करता है और पीली मक्खियों की तरह टूट पड़ता है, इससे उनके इस व्यवहार से कितना कष्ट होता है इसकी चिन्ता किसे है ?

पीली मक्खियाँ नन्हें-नन्हें डंक मारकर आधा मील पीछा करके वापिस लौट गईं, पर मनुष्य की अधिकार लिप्सा, स्वार्थपरता और अहंकार से उद्धत होकर किये जाने वाले आक्रमणों की भयंकरता को जब सोचता हूँ तो बेचारी पीली मक्खियों को ही बुरा-भला कहने में जीभ सकुचाने लगती है ।

ठण्डे पहाड़ के गर्म सोते

कई दिन से शरीर को सुन्न कर देने वाले बर्फीले ठण्डे पानी से स्नान करते आ रहे थे। किसी प्रकार हिम्मत बाँधकर एक-दो डुबकी तो लगा लेते थे, पर जाड़े के मारे शरीर को ठीक तरह रगड़ना और उस तरह स्नान करना नहीं बन पड़ रहा था, जैसा देह की सफाई की दृष्टि से आवश्यक है। आगे जगननी चट्टी पर पहुँचे, तो पहाड़ के ऊपर वाले तीन तप्त कुण्डों का पता चला, जहाँ से गरम पानी निकलता है। ऐसा सुयोग पाकर मल-मलकर स्नान करने की इच्छा प्रबल हो गई। गंगा का पुल पार कर ऊँची चढ़ाई की टेकरी को कई जगह बैठ-बैठकर हाँफते-हाँफते पार किया और तप्त कुण्डों पर जा पहुँचे। बराबर-बराबर तीन कुण्ड थे, एक का पानी इतना गरम था कि उसमें नहाना तो दूर, हाथ दे सकना भी कठिन था। बताया गया कि यदि चावल दाल की पोटली बाँधकर इस कुण्ड में डाल दी जाय तो वह खिचड़ी कुछ देर में पक जाती है। यह प्रयोग तो हम न कर सके, पर पास वाले दूसरे कुण्ड में जिसका पानी सदा गरम रहता है, खूब मल-मलकर स्नान किया और हफ्तों की अधूरी आकांक्षा पूरी की, कपड़े भी गरम पानी से खूब धुले, अच्छे साफ हुए।

सोचता हूँ कि पहाड़ों पर बर्फ गिरती रहती है और छाती में से झरने वाले झरने सदा बर्फ सा ठण्डा जल प्रवाहित ही करते हैं, उनमें कहीं-कहीं ऐसे उष्ण सोते क्यों फूट पड़ते हैं ? मालूम होता है कि पर्वत के भीतर कोई गन्धक की परत है वही अपने समीप से गुजरने वाली जलधारा को असह्य उष्णता दे देती है। इसी तरह किसी सज्जन में अनेक शीतल शांतिदायक गुण होने से उसका व्यवहार ठण्डे सोतों की तरह शीतल हो सकता है, पर यदि दुर्बुद्धि की एक भी परत छिपी हो, तो उसकी गर्मी गरम स्रोंतों की तरह बाहर फूट पड़ती है और वह छिपती नहीं।

जो पर्वत अपनी शीतलता को अक्षुण्य बनाए रहना चाहते हैं, उन्हें इस प्रकार की गन्धक जैसी विषैली पर्तों को बाहर निकाल फेंकना चाहिए। एक दूसरा कारण इन तप्त कुण्डों का और भी हो सकता है कि शीतल पर्वत अपने भीतर के इस विकार को निकाल-निकाल कर बाहर फेंक रहा हो और अपनी दुर्बलता को छिपाने की अपेक्षा सबके सामने प्रकट कर रहा हो– जिससे उसे कपटी और ढोंगी न कहा जा सके। दुर्गुणों का होना बुरी बात है, पर उन्हें छिपाना उससे भी बुरा है– इस तथ्य को यह पर्वत जानते हैं, यदि मनुष्य भी इसे जान लेता तो कितना अच्छा होता।

यह समझ में आता है कि हमारे जैसे ठंडे स्नान से खिन्न व्यक्तियों की गरम जल से स्नान कराने की सुविधा और आवश्यकता का ध्यान रखते हुए पर्वत ने अपने भीतर बची थोड़ी गर्मी को बाहर निकालकर रख दिया हो। बाहर से तो वह भी ठण्डा हो चला, फिर भीतर कुछ गर्मी बच गई होगी। पर्वत सोचता होगा जब सारा ही ठण्डा हो चला, तो इस थोड़ी-सी गर्मी को बचाकर ही क्या करूँगा, इसे भी क्यों न जरूरतमन्दों को दे डालूँ। उस आत्मदानी पर्वत की तरह कोई व्यक्ति भी ऐसे हो सकते हैं, जो स्वयं अभावग्रस्त, कष्टसाध्य जीवन व्यतीत करते हों और इतने पर भी जो शक्ति बची हो उसे भी जनहित में लगाकर इन तप्त कुण्डों का आदर्श उपस्थित करें। इस शीतप्रदेश का वह तप्त कुण्ड भुलाये नहीं भूलेगा। मेरे जैसे हजारों यात्री उसका गुणगान करते रहेंगे, उसमें त्याग भी तो असाधारण है। स्वयं ठण्डे रहकर दूसरों के लिए गर्मी प्रदान करना, भूखे रहकर दूसरों की रोटी जुटाने के समान है। सोचता हूँ बुद्धिहीन जड़-पर्वत जब इतना कर सकता है तो क्या बुद्धिमान् बनने वाले मनुष्य को केवल स्वार्थी ही रहना चाहिए ?

आलू का भालू

आज गंगोत्री यात्रियों का एक दल और भी साथ मिल गया। उस दल में सात आदमी थे-पाँच पुरुष, दो स्त्रियाँ। हमारा बोझा तो हमारे

कन्धे पर था, पर उन सातों का बिस्तर एक पहाड़ी कुली लिए चल रहा था। कुली देहाती था, उसकी भाषा भी ठीक तरह समझ में नहीं आती थी। स्वभाव का भी अक्खड़ और झगड़ालू जैसा था। झाला चट्टी की ओर ऊपरी पठार पर जब हम लोग चल रहे थे, तो उँगली का इशारा करके उसने कुछ विचित्र डरावनी-सी मुद्रा के साथ कोई चीज दिखाई और अपनी भाषा में कुछ कहा। सब बात तो समझ में नहीं आई, पर दल के एक आदमी ने इतना ही समझा भालू-भालू, वह गौर से उस ओर देखने लगा। घना कुहरा उस समय पड़ रहा था, कोई चीज ठीक से दिखाई नहीं पड़ती थी, पर जिधर कुली ने इशारा किया था, उधर काले-काले कोई जानवर उसे घूमते नजर आये।

जिस साथी ने कुली के मुँह से भालू-भालू सुना था और उसके इशारे की दिशा में काले-काले जानवर घूमते दीखे थे, वह बहुत डर गया। उसने पूरे विश्वास के साथ यह समझ लिया कि नीचे भालू-रीछ घूम रहे हैं। वह पीछे था, पैर दाब कर जल्दी-जल्दी आगे लपका कि वह भी हम सबके साथ मिल जाय, कुछ देर में वह हमारे साथ आ गया। होंठ सूख रहे थे और भय से काँप रहा था। उसने हम सबको रोका और नीचे काले जानवर दिखाते हुए बताया कि भालू घूम रहे हैं, अब यहाँ जान का खतरा है।

डर तो हम सभी गये, पर यह न सूझ पड़ रहा था कि किया क्या जाये? जंगल काफी घना था-डरावना भी, उसमें रीछ के होने की बात असम्भव न थी। फिर हमने पहाड़ी रीछों की भयंकरता के बारे में भी कुछ बढ़ी-चढ़ी बातें परसों ही साथी यात्रियों से सुनी थीं, जो दो वर्ष पूर्व मानसरोवर गये थे। डर बढ़ रहा था, काले जानवर हमारी ओर आ रहे थे। घने कुहरे के कारण शक्ल तो साफ नहीं दीख रही थी, पर रंग के काले और कद में बिलकुल रीछ जैसे थे, फिर कुली ने इशारे से भालू होने की बात बता दी है, अब संदेह की बात नहीं। सोचा-कुली से ही पूछें कि अब क्या करना चाहिए, पीछे मुड़कर देखा तो कुली ही गायब

था। कल्पना की दौड़ ने एक ही अनुमान लगाया कि वह जान का खतरा देखकर कहीं छिप गया है या किसी पेड़ पर चढ़ गया है। हम लोगों ने अपने भाग्य के साथ अपने को बिलकुल अकेला असहाय पाया।

हम सब एक जगह बिलकुल नजदीक इकट्ठे हो गये। दो-दो ने चारों दिशाओं की ओर मुँह कर लिए, लोहे की कील गड़ी हुई लाठियाँ जिन्हें लेकर चल रहे थे, बन्दूकों की भाँति सामने तान ली और तय कर लिया कि जिस पर रीछ हमला करे, वे उसके मुँह में कील गड़ी लाठी ठूँस दें और साथ ही सब लोग उस पर हमला कर दें, कोई भागे नहीं, अन्त तक सब साथ रहें चाहे जिएँ, चाहे मरें। योजना के साथ सब लोग धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे, रीछ जो पहले हमारी ओर आते दिखाई दे रहे थे, नीचे की ओर उतरने लगे, हम लोगों ने चलने की रफ्तार काफी तेज कर दी, दूनी से अधिक। जितनी जल्दी हो सके, खतरे को पार कर लेने की ही सबकी इच्छा थी। ईश्वर का नाम सबकी जीभ पर था। मन में भय बुरी तरह समा रहा था। इस प्रकार एक-डेढ़ मील का रास्ता पार किया।

कुहरा कुछ कम हुआ, आठ बज रहे थे। सूर्य का प्रकाश भी दीखने लगा। घनी वृक्षावली भी पीछे रह गई, भेड़-बकरी चराने वाले भी सामने दिखाई दिये। हम लोगों ने सन्तोष की साँस ली। अपने को खतरे से बाहर अनुभव किया और सुस्ताने के लिए बैठ गये। इतने में कुली भी पीछे से आ पहुँचा। हम लोगों को घबराया हुआ देखकर वह कारण पूछने लगा। साथियों ने कहा-तुम्हारे बताये हुए भालुओं से भगवान् ने जान बचा दी, पर तुमने अच्छा धोखा दिया, बजाय उपाय बताने के तुम खुद छिपे रहे।

कुली सकपकाया, उसने समझा उन्हें कुछ भ्रम हो गया। हम लोगों ने उसके इशारे से भालू बताने की बात दुहराई तो वह सब बात समझ गया कि हम लोगों को क्या गलतफहमी हुई है। उसने कहा- "झेला गाँव का आलू मशहूर बहुत बड़ा-बड़ा पैदा होता है, ऐसी फसल इधर किसी

गाँव में नहीं होती वही बात मैंने अँगुली के इशारे से बताई थी । झाला का आलू कहा था आपने उसे भालू समझा । वह काले जानवर तो यहाँ की काली गायें हैं, जो दिन भर इसी तरह चरती-फिरती हैं । कुहरे के कारण ही वे रीछ जैसी आपको दीखीं । यहाँ भालू कहाँ होते हैं, वे तो और ऊपर पाए जाते हैं, आप व्यर्थ ही डरे । मैं तो टट्टी करने के लिए छोटे झरने के पास बैठ गया था । साथ होता तो आपका भ्रम उसी समय दूर कर देता ।

हम लोग अपनी मूर्खता पर हँसे भी और शर्मिन्दा भी हुए । विशेषतया उस साथी को जिसने कुली की बात को गलत तरह समझा, खूब लताड़ा गया । भय मजाक में बदल गया । दिन भर उस बात की चर्चा रही । उस डर के समय में जिस-जिस ने जो-जो कहा था और किया था उसे चर्चा का विषय बनाकर सारे दिन आपस की छींटाकशी-चुहलबाजी होती रही । सब एक दूसरे को अधिक डरा हुआ परेशान सिद्ध करने में रस लेते । मंजिल आसानी से कट गई । मनोरंजन का अच्छा विषय रहा ।

भालू की बात जो घण्टे भर पहले बिलकुल सत्य और जीवन-मरण की समस्या मालूम पड़ती रही, अन्त में एक और भ्रान्ति मात्र सिद्ध हुई । सोचता हूँ कि हमारे जीवन में ऐसी अनेकों भ्रांतियाँ घर किये हुए हैं और उनके कारण हम निरन्तर डरते रहते हैं, पर अन्ततः वे मानसिक दुर्बलता मात्र साबित होती हैं । हमारे ठाट-बाट, फैशन और आवास में कमी आ गई तो लोग हमें गरीब और मामूली समझेंगे, इस अपडर से अनेकों लोग अपने इतने खर्चे बढ़ाए रहते हैं, जिनको पूरा करना कठिन पड़ता है । लोग क्या कहेंगे यह बात चरित्र पतन के समय याद आवे तो ठीक भी है; पर यदि यह दिखावे में कमी के समय मन में आवे तो यही मानना पड़ेगा कि वह अपडर मात्र है, खर्चीला भी और व्यर्थ भी । सादगी से रहेंगे, तो गरीब समझे जायेंगे, कोई हमारी इज्जत न करेगा । यह भ्रम

दुर्बल मस्तिष्कों में ही उत्पन्न होता है, जैसे कि हम लोगों को एक छोटी-सी नासमझी के कारण भालू का डर हुआ था।

अनेकों चिन्ताएँ, परेशानियाँ, दुबिधाएँ, उत्तेजनाएँ, वासनाएँ तथा दुर्भावनाएँ आए दिन सामने खड़ी रहती हैं, लगता है यह संसार बड़ा दुष्ट और डरावना है। यहाँ की हर वस्तु भालू की तरह डरावनी है; पर जब आत्मज्ञान का प्रकाश होता है, अज्ञान का कुहरा फटता है, मानसिक दौर्बल्य घटता है, तो प्रतीत होता है कि जिसे हम भालू समझते थे, वह तो पहाड़ी गाय थी। जिन्हें शत्रु मानते हैं, वे तो हमारे अपने ही स्वरूप हैं। ईश्वर अंश मात्र हैं। ईश्वर हमारा प्रियपात्र है तो उसकी रचना भी मंगलमय होनी चाहिए। उसे जितने विकृत रूप में हम चित्रित करते हैं, उतना ही उससे डर लगता है। यह अशुद्ध चित्रण हमारी मानसिक भ्रान्ति है, वैसी ही जैसी कि कुली के शब्द आलू को भालू समझकर उत्पन्न कर ली गई थी।

रोते पहाड़

आज रास्ते में "रोते पहाड़" मिले। उनके पत्थर नरम थे, ऊपर किसी सोते का पानी रुका पड़ा था। पानी को निकलने के लिए जगह न मिली। नरम पत्थर उसे चूसने लगे, वह चूसा हुआ पानी जाता कहाँ ? नीचे की ओर वह पहाड़ को गीला किये हुए था। जहाँ जगह थी वहाँ वह गीलापन धीरे-धीरे इकट्ठा होकर बूँदों के रूप में टपक रहा था। इन टपकती बूँदों को लोग अपनी भावना के अनुसार आँसू की बूँदें कहते हैं। जहाँ-तहाँ से मिट्टी उड़कर इस गीलेपन से चिपक जाती है, उसमें हरियाली के जीवाणु भी आ जाते हैं। इस चिपकी हुई मिट्टी पर एक हरी मुलायम काई जैसी उग आती है। काई को पहाड़ में "कीचड़" कहते है। जब वह रोता है तो आँखें दुःखती हैं। रोते हुए पहाड़ आज हम लोगों ने देखे, उनके आँसू भी कहीं से पोंछे। कीचड़ों को टटोल कर देखा। वह इतना ही कर सकते थे । पहाड़ तू क्यों रोता है ? इसे कौन पूछता और क्यों वह इसका उत्तर देता ?

पर कल्पना तो अपनी जिद की पक्की है ही, मन पर्वत से बातें करने लगा। पर्वत राज ! तुम इतनी वनश्री से लदे हो, भाग-दौड़ की कोई चिन्ता भी तुम्हें नहीं है, बैठे-बैठे आनन्द के दिन गुजारते हो, तुम्हें किस बात की चिन्ता ? तुम्हें रुलाई क्यों आती है ?

पत्थर का पहाड़ चुप खड़ा था; पर कल्पना का पर्वत अपनी मनोव्यथा कहने ही लगा। बोला मेरे दिल का दर्द तुम्हें क्या मालूम ? मैं बड़ा ही ऊँचा हूँ, वनश्री से लदा हूँ, निश्चिन्त बैठा रहता हूँ। देखने को मेरे पास सब कुछ है, पर निष्क्रिय- निश्चेष्ट जीवन भी क्या कोई जीवन है। जिसमें गति नहीं, संघर्ष नहीं, आशा नहीं, स्फूर्ति नहीं, प्रयत्न नहीं वह जीवित होते हुए भी मृतक के समान है। सक्रियता में ही आनन्द है। मौज के छानने और आराम करने में तो केवल काहिल की मुर्दनी की नीरवता मात्र है। इसे अनजान ही आराम और आनन्द कह सकते हैं। इस दृष्टि से क्रीड़ापन में जो जितना खेल लेता है, वह अपने को उतना ही तर्रो-ताजा और प्रफुल्लित अनुभव करता है। सृष्टि के सभी पुत्र प्रगति के पथ पर उल्लास भरे सैनिकों की तरह कदम पर कदम बढ़ाते, मोर्चे पर मोर्चा पार करते चले जाते हैं। दूसरी ओर मैं हूँ जो सम्पदाएँ अपने पेट में छिपाए मौज की छान रहा हूँ। कल्पना बेटी तुम मुझे सेठ कह सकती हो, अमीर कह सकती हो, भाग्यवान् कह सकती हो, पर हूँ तो मैं निष्क्रिय ही। संसार की सेवा में अपने पुरुषार्थ का परिचय देकर लोग अपना नाम इतिहास में अमर कर रहे हैं, कीर्तिवान् बन रहे हैं। अपने प्रयत्न का फल दूसरे को उठाते देखकर गर्व अनुभव कर रहे हैं; पर मैं हूँ जो अपना वैभव अपने तक ही समेटे बैठा हूँ। इस आत्मग्लानि से यदि रुलाई मुझे आती है, आँखो में आँसू बरसते और कीचड़ निकलते हैं, तो उसमें अनुचित ही क्या है ?

मेरी नन्हीं-सी कल्पना ने पर्वतराज से बातें कर लीं, समाधान भी पा लिया, पर वह भी खिन्न ही थी। बहुत देर तक यही सोचती रही, कैसा अच्छा होता, यदि इतना बड़ा पर्वत अपने टुकड़े- टुकड़े करके अनेकों

भवनों, सड़कों, पुलों के बनाने में खप सका होता । तब भले वह इतना बड़ा न रहता, सम्भव है इस प्रयत्न से उसका अस्तिव भी समाप्त हो जाता, लेकिन तब वह वस्तुत: धन्य हुआ होता, वस्तुत: उसका बड़प्पन सार्थक हुआ होता । इन परिस्थितियों से वंचित रहने पर यदि पर्वतराज अपने को अभागा मानता है और अपने दुर्भाग्य को धिक्कारता हुआ सिर धुनकर रोता है; तो उसका यह रोना सकारण ही है ।

लदी हुई बकरी

छोटा-सा जानवर बकरी इस पर्वतीय प्रदेश की तरणतारिणी कामधेनु कही जा सकती है । वह दूध देती है, ऊन देती है, बच्चे देती है, साथ ही वजन भी ढोती है । आज बड़े-बड़े बालों वाली बकरियों का एक झुण्ड रास्ते में मिला, लगभग सौ- सवा सौ होंगी, सभी लदी हुई थीं । गुड़-चावल, आटा लादकर वे गंगोत्री की ओर ले जा रही थीं । हर एक पर उसके कद और बल के अनुसार दस-पन्द्रह सेर वजन लदा हुआ था । माल असबाव की ढुलाई के लिए खच्चरों के अतिरिक्त इधर बकरियाँ ही साधन हैं । पहाड़ों की छोटी-छोटी पगडंडियों पर दूसरे जानवर या वाहन काम तो नहीं कर सकते ।

सोचता हूँ कि जीवन की समस्याएँ हल करने के लिए बड़े-बड़े विशाल साधनों पर जोर देने की कोई इतनी बड़ी आवश्यकता नहीं है, जितनी समझी जाती है, जब कि व्यक्ति साधारण उपकरणों से अपने निर्वाह के साधन जुटाकर शान्तिपूर्वक रह सकता है। सीमित औद्योगीकरण की बात दूसरी है, पर यदि वे बढ़ते ही रहे तो बकरियों तथा उनके पालने वाले जैसे लाखों की रोजी-रोटी छीनकर चन्द उद्योगपतियों की कोठियों में जमा हो सकती है । संसार में जो युद्ध की घटाएँ आज उमड़ रही हैं, उसके मूल में भी इस उद्योग व्यवस्था के लिए मारकेट जुटाऩे, उपनिवेश बनाने की लालसा ही काम कर रही है ।

बकरियों की पंक्ति देखकर मेरे मन में यह भाव उत्पन्न हो रहा है कि व्यक्ति यदि छोटी सीमा में रहकर जीवन विकास की व्यवस्था जुटाए

तो इसी प्रकार शान्तिपूर्वक रह सकता है, जिस प्रकार यह बकरियों वाले भले और भोले पहाड़ी रहते हैं। प्राचीनकाल में धन और सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना ही भारतीय समाज का आदर्श था। ऋषि-मुनि एक बहुत छोटी इकाई के रूप में आश्रमों और कुटियों मे जीवन-यापन करते थे। ग्राम उससे कुछ बड़ी इकाई थे, सभी अपनी आवश्यकताएँ अपने क्षेत्र में, अपने समाज से पूरी करते थे और हिल-मिलकर सुखी जीवन बिताते थे, न इसमें भ्रष्टाचार की गुंजायश थी न बदमाशी की। आज उद्योगीकरण की घुड़दौड़ में छोटे गाँव उजड़ रहे हैं, बड़े शहर बस रहे हैं, गरीब पिस रहे हैं, अमीर पनप रहे हैं। विकराल राक्षस की तरह धड़धड़ाती हुई मशीनें मनुष्य के स्वास्थ्य को, स्नेह सम्बन्धों को, सदाचार को भी पीसे डाल रही हैं। इस यन्त्रवाद, उद्योगवाद, पूँजीवाद की नींव पर जो कुछ खड़ा किया जा रहा है, उसका नाम विकास रखा गया है, पर यह अन्ततः विनाशकारी ही सिद्ध होगा।

विचार असम्बद्ध होते जा रहे हैं, छोटी बात मस्तिष्क में बड़ा रूप धारण कर रही है, इसलिए इन पंक्तियों को यहीं समाप्त करना उचित है, फिर भी बकरियाँ भुलाये नहीं भूलतीं। वे हमारे प्राचीन भारतीय समाज रचना की एक स्मृति को ताजा करती हैं, इस सभ्यता के युग में उन बेचारियों की उपयोगिता कौन मानेगा ? पिछड़े युग की निशानी कहकर उनका उपहास ही होगा, पर सत्य-सत्य ही रहेगा, मानव जाति जब कभी शान्ति और संतोष के लक्ष्य पर पहुँचेगी, तब धन और सत्ता का विकेन्द्रीकरण अवश्य हो रहा होगा और लोग इसी तरह श्रम और सन्तोष से परिपूर्ण जीवन बिता रहे होंगे। जैसे बकरी वाले अपनी मैं-मैं करती हुई बकरियों के साथ जीवन बिताते हैं।

प्रकृति के रुद्राभिषेक

आज भोजवासा चट्टी पर आ पहुँचे। कल प्रातः गोमुख के लिएरवाना होना है। यहाँ यातायात नहीं है, उत्तरकाशी और गंगोत्री के रास्ते में यात्री मिलते हैं। चट्टियों पर ठहरने वालों की भीड़ भी मिलती है, पर वहाँ वैसा कुछ नहीं। आज कुल मिलाकर हम छः यात्री हैं। भोजन अपना-अपना सभी साथ लाए हैं, यों कहने को तो भोजवासा की चट्टी है, यहाँ धर्मशाला भी है, पर नीचे की चट्टियों जैसी सुविधा यहाँ कहाँ है ?

सामने वाले पर्वत पर दृष्टि डाली तो ऐसा लगा मानो हिमगिरि स्वयं अपने हाथों भगवान् शंकर के ऊपर जल का अभिषेक करता हुआ पूजा कर रहा हो। दृश्य बड़ा ही अलौकिक था। बहुत ऊपर से एक पतली-सी जलधारा नीचे गिर रही थी। नीचे प्रकृति के निमित्त बने शिवलिंग थे, धारा उन्हीं पर गिर रही थी। गिरते समय वह धारा छींटे-छींटे हो जाती थी। सूर्य की किरण उन छींटों पर पड़कर उन्हें सात रंगों के इन्द्र धनुष जैसा बना देती थी। लगता था साक्षात् शिव विराजमान हैं, उनके शीश पर आकाश से गंगा गिर रही है और देवता सप्त रंगों से पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। दृश्य इतना मन-मोहक था कि देखते-देखते मन नहीं अघाता था। उस अलौकिक दृश्य को तब तक देखता ही रहा जब तक अन्धेरे ने पटाक्षेप नहीं कर दिया।

सौन्दर्य आत्मा की प्यास है, पर वह कृत्रिमता की कीचड़ में उपलब्ध होना कहाँ सम्भव है ? इन वन पर्वतों के चित्र बनाकर लोग अपने घरों में टाँगते हैं और उसी से सन्तोष कर लेते हैं; पर प्रकृति की गोद में जो सौन्दर्य का निर्झर बह रहा है, उसकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता। यहाँ इस सारे ही रास्ते में सौन्दर्य बिखरा पड़ा था। हिमालय को सौन्दर्य का सागर कहते हैं। उसमें स्नान करने से आत्मा में, अन्तःप्रदेश में एक सिहरन-सी उठती है, जी करता है इस अनन्त सौन्दर्य राशि में अपने आपको खो क्यों न दिया जाय ?

आज का दृश्य यों प्रकृति का एक चमत्कार ही था, पर अपनी भावना

उसमें एक दिव्य झाँकी का आनन्द लेती रही, मानो साक्षात् शिव के ही दर्शन हुए हों । इस आनन्द की अनुभूति में आज अन्तःकरण गद्‌गद् होता जा रहा है । काश ! ऐसे रसास्वादन को एक अंश में लिख सकना मेरे लिए सम्भव हुआ होता, तो जो यहाँ नहीं हैं, वे भी कितना सुख पाते और अपने भाग्य को सराहते ।

मील का पत्थर

आज फिर वही कठिनाई आ गई, जो उत्तरकाशी से चलते हुए आरम्भिक दो दिनों में आई थी । भटवाड़ी चट्टी तक रास्ते को चौड़ा करने और सुधारने का काम चल रहा था, इसलिए मील के पत्थर उन दो दिनों में नहीं मिले । रास्ते में कड़ी चढ़ाई- उतराई और कठिन मंजिल थोड़ी ही देर में थका देती थी । घने जंगलों का प्राकृतिक सौन्दर्य था, तो बहुत भला, पर रोज-रोज चौबीस घण्टे वही देखते रहने से आरम्भ में जो आकर्षण था, वह घट ही रहा था । सुनसान में अकेली यात्रा भी अखरने ही वाली थी । जन कोलाहल में व्यस्त जीवन बिताने वाले के लिए नीरव एकान्त भी कष्टदायक होता है । यह सूनापन और कठोर श्रम जब शरीर और मन को थकाने लगता तो एक ही जिज्ञासा उठती-आज कितनी मंजिल पार कर ली ? कितनी अभी और शेष है ?

थोड़ी-थोड़ी दूर चलकर सामने से आने वालों से पूछते-अब अगली चट्टी कितनी दूर है ? उसी से अन्दाज लगाते कि आज अभी कितना और चलना है ? कुछ रास्तागीर घमण्डी होते, जानकर भी उपेक्षा करते, न बताते कुछ को मालूम ही न था, कुछ अन्दाज से बताते तो उसमें मीलों का अन्तर होता, इससे यह भी आशा कम ही रहती थी कि पूछने पर भी समाधान कारक उत्तर मिल ही जायेगा, यह एक बड़ी कमी थी, खासतौर से अकेले चलने वाले के लिए । सात-पाँच की हँसते-बोलते हुए आसानी से मंजिल कट जाती है, पर अकेले के लिए काटना तो उसे काफी कठिन होता है । इस कठिनाई में मील के पत्थर कितना काम देते
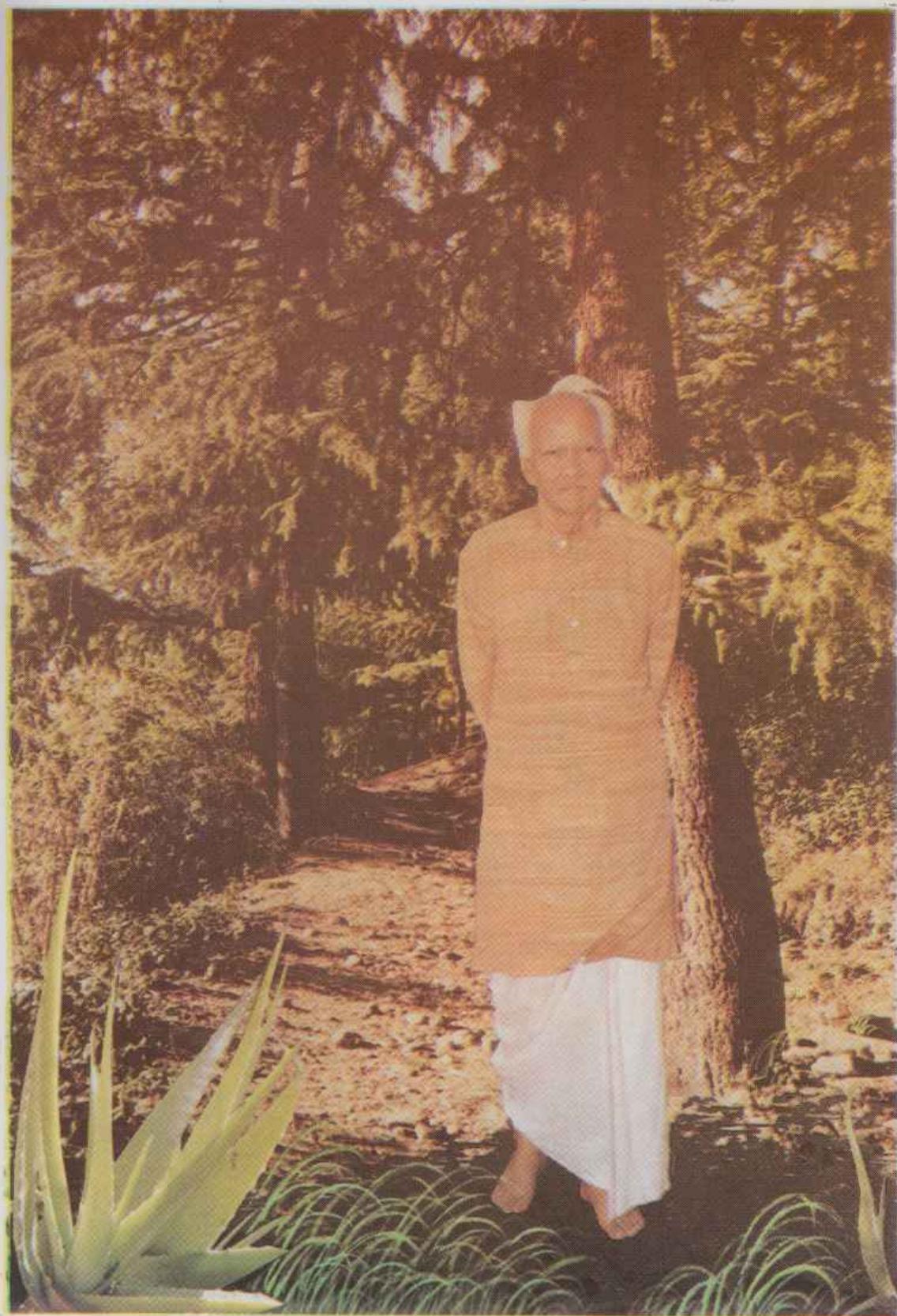
दुर्गम हिमालय की ओर जाते हुए परम पूज्य गुरुदेव

दुर्गम हिमालय की ओर "देवपथ" पर जाते हुए

हैं, इसका अनुभव भटवाड़ी चट्टी से लेकर गंगोत्री तक की यात्रा में किया । इस बीच में मील तो नहीं गढ़े थे, पर पहाड़ी की दीवार पर सफेदी पोतकर लाल अक्षर से २५/६ इस प्रकार के संकेत जहाँ-तहाँ लिख दिए थे। इसका अर्थ था धरासूँ से पच्चीस-मील सात फर्लांग आ गए। पिछली चट्टी पर कौन-सा मील था, अगली चट्टी पर कौन-सा मील पड़ेगा, यह जानकारी नक्शे के आधार पर थी- मंजिल का पता चलता रहता । इस सुनसान में यह फर्लांग के अक्षर भी बड़े सहायक थे, इन्हीं के सहारे सारा रास्ता कटता था । एक फर्लांग गुजरने पर दूसरे की आशा लगती और वह आ जाती तो सन्तोष होता कि इतनी सफलता मिली अब इतना ही शेष रह गया ?

आज फिर गंगोत्री से गोमुख के रास्ते में मील, फर्लांग नहीं हैं, तो फिर वैसी ही असुविधा हुई, जैसी उत्तरकाशी से चलते समय आरम्भिक दो दिनों में हुई थी । यह गंगोत्री से गोमुख का १८ मील का रास्ता बड़ी मुश्किल से कटा, एक तो यह था भी बड़ा दुर्गम, फिर उस पर भी मील, फर्लांग जैसे साथी और मार्गदर्शकों का अभाव । आज यह पंक्तियाँ लिखते समय यह परेशानी कुछ ज्यादा अखर रही है ।

सोचता हूँ, मील का पत्थर अपने आप में कितना तुच्छ है । उसकी कीमत, योग्यता, सामर्थ्य, विद्या, बुद्धि सभी उपहासास्पद है; पर यह अपने एक निश्चित और नियत कर्तव्य को लेकर यथास्थान जम गया है । हटने की सोचता तक नहीं । उसे एक छोटी बात मालूम है, धरासूँ इतने मील इतने फर्लांग है । बस केवल इतने से ज्ञान से लेकर यह जन-सेवा के पथ पर अड़ गया है । उस पत्थर के टुकड़े की, नगण्य और तुच्छ सी-यह निष्ठा अन्तत: कितनी उपयोगी सिद्ध हो रही है ।मुझ जैसे अगणित पथिक उससे मार्गदर्शन पाते हैं और अपनी परेशानी का समाधान करते हैं ।

जब यह जरा-सा पत्थर का टुकड़ा मार्ग-दर्शन कर सकता है, जब मिट्टी का जरा-सा एक दो पैसे मूल्य का दीपक प्रकाश देकर रात्रि के खतरों से दूसरों की जीवन रक्षा कर सकता है, तो क्या सेवा भावी मनुष्य

को इसलिए चुप ही बैठना चाहिए कि उसकी विद्या कम है, बुद्धि कम है, सामर्थ्य कम है, योग्यता कम है ? कमी हर किसी में है; पर हममें से प्रत्येक अपने क्षेत्र के-कम से कम जानकारी में, कम स्थिति के लोगों में बहुत कुछ क़र सकते हैं । "अमुक योग्यता मिलती तो अमुक कार्य करता" ऐसी शेखचिल्ली कल्पनाएँ करते रहने की अपेक्षा, क्या यह उचित नहीं कि अपनी जो योग्यता है उसी को लेकर अपने से पिछड़े हुए लोगों को आगे बढ़ाने का मार्ग-दर्शन का काम शुरू कर दें । मील का पत्थर सिर्फ धरासूँ और गंगोत्री का अन्तर मात्र जानता है, उतना ही बता सकता है, पर उसकी सेवा भी क्या कम महत्त्व की है । उसके अभाव में उत्तरकाशी से भटवाड़ी तक परेशानी रही और कल गोमुख दर्शन का जो सौभाग्य मिलने वाला है, उसकी सुखद कल्पना में उन पत्थरों का अभाव बुरी तरह खटक रहा है ।

हममें से कितने ऐसे हैं, जो मील के पत्थरों से अधिक जन सेवा कर सकते हैं, पर आत्मविश्वास, निष्ठा और जो कुछ है, उसी को लेकर अपने उपयुक्त क्षेत्र में अड़ जाने की निष्ठा हो, तभी तो हमारी उपयोगिता को सार्थक होने का अवसर मिले ।

अपने और पराये

लगातार की यात्रा ने पैरों में छाले डाल दिये । आज ध्यानपूर्वक पैरों को देखा, तो दोनों पैरों में कुल मिलाकर छोटे-बड़े दस छाले निकले । कपड़े का नया जूता इसलिए पहना था कि कठिन रास्ते में मदद देगा, पर भले मानस ने भी दो जगह काट खाया । इन छाले और जख्मों में से जो कुछ कच्चे थे वे सफेद और जिनमें पानी पड़ गया वहाँ वे पीले हो गए हैं । चलने में दर्द करते हैं और दुखते हैं । लगता है, पैर अपने सफेद पीले दाँत निकाल कर चलने में लाचारी प्रकट कर रहे हैं ।

मंजिल दूर है । गुरु पूर्णिमा तक हर हालत में नियत स्थान पर पहुँचना है । पैर अभी से दाँत दिखायेंगे तो कैसे बनेगी ? लँगड़ा-लँगड़ा

कर कल तो किसी प्रकार चल लिया गया, पर आज मुश्किल मालूम पड़ती है। दो-तीन छाले फूट गये, जख्म बनते जा रहे हैं।बढ़ गए तो चलना कठिन हो जायेगा और न चला जा सका तो नियत समय तक लक्ष्य पर पहुँचना कैसे सम्भव होगा ? इस चिन्ता ने दिन भर परेशान रखा।

नंगे पैर चलना भी कठिन है। रास्ते भर ऐसी पथरीली कंकड़ियाँ बिछी हुई हैं कि वे जहाँ पैर में गड़ जाती हैं, काँटे की तरह दर्द करती हैं। एक उपाय करना पड़ा। आधी धोती फाड़कर दो टुकड़े किये गये और उन्हें पैरों से बाँध दिया गया। जूते उतारकर थैले में रख लिए। काम चल गया। धीरे-धीरे रास्ता कटने लगा।

एक ओर तो यह अपने पैर हैं जो आड़े वक्त में दाँत दिखाने लगे दूसरी ओर यह बाँस की लाठी है, जो बेचारी न जाने कहाँ जन्मी कहाँ बड़ी हुई और कहाँ से साथ हो ली, सगे भाई जैसा काम दे रही है। जहाँ चढ़ाई आती है, वहाँ यह तीसरे पैर का काम करती है। जैसे बूढ़े बीमार को सहृदयी कुटुम्बी अपने कन्धे का सहारा देकर आगे ले चलता है, वैसे ही थकान से जब शरीर चूर-चूर होता है, तब यह लाठी सगे-सम्बन्धी जैसा ही सहारा देती है।

गंगनानी चट्टी से आगे जहाँ वर्षा के कारण बुरी तरह फिसलन हो रही थी। एक ओर पहाड़ दूसरी ओर गंगा का तंग रास्ता-उस कठिन समय में इस लाठी ने ही कदम-कदम पर जीवन मृत्यु की पहेली को सुलझाया। उसने भी यदि जूतों की तरह साथ छोड़ दिया होता तो कौन जाने आज यह पंक्तियाँ लिखने वाली कलम और अँगुलियों का कहीं पता भी न होता।

बड़ी आशा के साथ लिए हुए जूते ने काट खाया। जिन पैरों पर बहुत भरोसा था, उनने भी दाँत दिखा दिए, पर वह कुछ पैसे की लाठी इतनी काम आई कि कृतज्ञता से इसका गुणानुवाद गाते रहने को जी चाहता है।

अपनों से आशा थी, पर उनने साथ नहीं दिया। इस पर झुंझलाहट आ रही थी। दूसरे ही क्षण पराई लगने वाली लाठी की वफादारी याद आ गई। चेहरा प्रसन्नता से खिल गया। जिनने अड़चन पैदा की उनकी वजाय उन्हीं का स्मरण क्यों न करूँ ज़िसकी उदारता सहायता के बल पर यहाँ तक आ पहुँचा हूँ। अपने पराये की क्या सोचूँ। उस ईश्वर की दृष्टि में सभी अपने, सभी पराये हैं।

स्वल्प से सन्तोष

आज रास्ते भर पहाड़ी जनता के कष्ट साध्य जीवन को अधिक ध्यान से देखता आया और अधिक विचार करता रहा। जहाँ पहाड़ों में थोड़ी-थोड़ी चार-चार छः-छः हाथ जमीन भी काम की मिली है, वहाँ उतने ही छोटे-छोटे खेत बना लिए हैं। बैलों की गुजर वहाँ कहाँ ? कुदाली से ही मिट्टी को खोदकर जुताई की आवश्यकता पूरी कर दी है। जब फसल पकती है, तो पीठ पर लादकर इतनी ऊँचाई पर बसे हुए लोग अपने घरों में पहुँचाते हैं और वहीं उसे कूट-पीटकर अन्न निकालते हैं। जहाँ झरने का पानी नहीं वहाँ बहुत नीचे गहराई से पानी सिर और पीठ पर लादकर ले जाते हैं। पुरुष तो जहाँ-तहाँ दीखते हैं, सारा कृषि कार्य स्त्रियाँ ही करती हैं। ऊँचे पहाड़ों पर से घास और लकड़ी काट कर लाने का काम भी वे ही करती हैं।

जितनी यात्रा करके हम थक जाते हैं, उससे कहीं अधिक चढ़ने-उतरने और चलने का काम इन्हें करना पड़ता है। कोई मनोरंजन के साधन नहीं। कहीं हाथ के कते, ऊन के बने, कहीं सूती फटे-टूटे कपड़ों में ढके थे। फिर भी बहुत प्रसन्न दीखते थे। खेतों पर काम करती हुई स्त्रियाँ मिलकर गीत गाती थीं। उनकी भाषा न समझने के कारण उन गीतों का अर्थ तो समझ में न आता था; पर उल्लास सन्तोष जो उनमें से टपका पड़ता था, उसे समझने में कुछ भी कठिनाई नहीं हुई।

सोचता हूँ अपने नीचे के प्रान्तों के लोगों के पास यहाँ के निवासियों की तुलना में धन, सम्पत्ति, शिक्षा साधन, सुविधा, भोजन, मकान सभी

कुछ अनेक गुना अधिक है। उन्हें श्रम भी काफी कम करना पड़ता है, फिर भी लोग अपने को दुःखी और असन्तुष्ट ही अनुभव करते हैं। हर घड़ी रोना ही रोते हैं, दूसरी ओर यह लोग हैं कि अत्यधिक कठिन जीवन बिता कर जो निर्वाह योग्य सामग्री प्राप्त हो जाती है उसी से काम चला लेते हैं और सन्तुष्ट रहकर शान्ति का जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसा अन्तर क्यों है ?

लगता है- असन्तोष एक प्रवृत्ति है, जो साधनों से नहीं तृष्णा से सम्बन्धित है। साधनों से तृष्णा-तृप्त नहीं होती वरन् सुरसा के मुँह की तरह और अधिक बढ़ती है। यदि ऐसा न होता तो इस पहाड़ी जनता की अपेक्षा अनेक गुने सुख साधन रखने वाले असन्तुष्ट क्यों रहते ? और स्वल्प साधनों के होते हुए भी यह पहाड़ी लोग गाते-बजाते हर्षोल्लास का जीवन क्यों बिताते ?

अधिक साधन यों तो ठीक हैं। उनकी जरूरत भी है, पर वे जितने मिल सकें, उतने से प्रसन्न रहने और परिस्थिति के अनुसार अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करने की रीति को त्यागा जाय और क्यों अशान्त और असन्तुष्ट रहकर उपलब्ध ईश्वरीय उपहार का तिरस्कार किया जाय ?

सभ्यता की अंधी दौड़ में अधिक खर्च और अधिक असन्तुष्ट रहने का जो रास्ता हमने अपनाया है, वह सही नहीं। इस तथ्य का प्रतिपादन पहाड़ी जनता करती है। भले ही वह इस विषय पर भाषण न दे सके, भले ही वह इस आदर्श पर निबन्ध न लिख सके।

गर्जन-तर्जन करती भेरों घाटी

आज भेरों घाटी पार की। तिब्बत से व्यापार करने के लिए तैलंगघाटी का रास्ता यहीं से है। हर्षिल के जाड़ और खम्भा व्यापारी इसी रास्ते तिब्बत के लिए माल बेचने ले जाते हैं और बदले में उधर से ऊन आदि लाते हैं। चढ़ाई बहुत कड़ी होने के कारण थोड़ी-थोड़ी दूर चलने पर ही साँस फूलने लगती थी और बार-बार बैठने एवं सुस्ताने की आवश्यकता अनुभव होती थी।

पहाड़ की चट्टान के नीचे बैठा सुस्ता रहा था। नीचे गंगा इतने जोर से गर्जन कर रही थी, जितनी रास्ते भर में अन्यत्र नहीं सुनी। पानी के छींटे उछलकर तीस-चालीस फुट ऊँचे तक आ रहे थे। इतना गर्जन-तर्जन, इतना जोश, इतना तीव्र प्रवाह यहाँ क्यों है? यह जानने की उत्सुकता बढ़ी और ध्यानपूर्वक नीचे झाँक कर देखा, दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाई।

दिखाई दिया कि यहाँ गंगा दोनों ओर सटे पहाड़ों के बीच बहुत छोटी-सी चौड़ाई में होकर गुजरती हैं। चौड़ाई मुश्किल से पन्द्रह-बीस फुट होगी। इतनी बड़ी जल राशि इतनी तंग जगह में होकर गुजरे तो वहाँ प्रवाह की इतनी तीव्रता होनी ही चाहिए। फिर उसी मार्ग में कई चट्टानें पड़ी थीं, जिनसे जलधारा तेजी से टकराती थी; उस टकराहट से ही घोर शब्द हो रहा था। इतनी ऊँची उछालें ईंटों के रूप में मार रहा था। गंगा के प्रचण्ड प्रवाह का दृश्य यहाँ देखते ही बनता था।

सोचता हूँ कि सोरों आदि स्थानों में जहाँ मीलों की चौड़ाई गंगा की है, वहाँ जलधारा धीमे-धीमे बहती रहती है, वहाँ प्रवाह में न प्रचण्डता होती है न तीव्रता; पर इस छोटी घाटी के तंग दायरे में होकर गुजरने के कारण जलधारा इतनी तीव्र गति से बही। मनुष्य का जीवन विभिन्न क्षेत्रों में बँटा रहता है वह सुखी रहता है। उसमें कुछ विशेषता पैदा नहीं हो पाती, पर जब विशिष्ट लक्ष्य को लेकर कोई व्यक्ति उस सीमित क्षेत्र में ही अपनी सारी शक्तियों को केन्द्रित कर देता है, तो उसके द्वारा आश्चर्यजनक उत्साह-वर्धक परिणाम उत्पन्न होते देखे जाते हैं। मनुष्य यदि अपने कार्यक्षेत्र को बहुत फैलाने, अनेक अधूरे काम करने की अपेक्षा अपने लिए एक विशेष कार्यक्षेत्र चुन ले तो क्या वह भी इस तंग घाटी में गुजरते समय उछलती गंगा की तरह आगे बढ़ सकता है ?

जलधारा के बीच पड़े हुए शिलाखण्ड पानी को टकराने के लिए विवश कर रहे थे। इसी संघर्ष में गर्जन-तर्जन हो रहा था और छोटे-छोटे रूई के गुब्बारे के बने पहाड़ की तरह ऊपर उठ रहे थे। सोचता हूँ यदि

कठिनाइयाँ जीवन में न हों, तो व्यक्ति की विशेषताएँ बिना प्रकट हुए ही रह जायें। टकराने से शक्ति उत्पन्न होने का सिद्धान्त एक सुनिश्चित तथ्य है। आराम का शौक-मौज का जीवन, विलासी जीवन निर्जीवों से कुछ ही ऊँचा माना जा सकता है। कष्ट सहिष्णुता, तितीक्षा, तपश्चर्या एवं प्रतिरोधों में बिना खिन्नता मन में लाए वीरोचित भाव से निपटने का साहस यदि मनुष्य अपने भीतर एकत्रित कर ले, तो उसकी कीर्ति भी उस आज के स्थान की भाँति गर्जन-तर्जन करती हुई दिग्दिगन्त में व्यापक हो सकती है। उसका विशेषतायुक्त व्यक्तित्व छींटों के उड़ते हुए फुब्बारे की तरह से ही दिखाई दे सकता है। गंगा डरती नहीं, न शिकायत करती है, यह तंगी में होकर गुजरती है, मार्ग रोकने वाले रोड़ों से घबराती नहीं, वरन् उनसे टकराती हुई अपना रास्ता स्वयं बनाती है। काश ! हमारी अन्तः चेतना भी ऐसे प्रबल वेग से परिपूर्ण हुई होती, तो व्यक्तित्व के निखरने का कितना अमूल्य अवसर हाथ लगता।

सीधे और टेढ़े पेड़

रास्ते भर चीड़ और देवदारु के पेड़ों का सघन वन पार किया। यह पेड़ कितने सीधे और ऊँचाई तक बढ़ते चले गये हैं, उन्हें देखकर प्रसन्नता होती है।कई पेड़ पचास फुट तक ऊँचे होंगे। सीधे ऐसे चले गये हैं मानों ढाल पर लट्ठे गाड़ दिये हैं। मोटाई और मजबूती भी काफी है।

इनके अतिरिक्त तेवार, दादरा, पिनखू आदि के टेढ़े-मेढ़े पेड़ भी बहुत हैं, जो चारों ओर छितराए हुए हैं। इनकी बहुत डालियाँ फूटती हैं और सभी पतली रहती हैं। इनमें से कुछ को छोड़कर शेष ईंधन के काम आते हैं। ठेकेदार लोग इन्हें जलाकर कोयला भी बना ले जाते हैं। यह पेड़ जगह तो बहुत घेरते हैं, पर उपयोग इनका साधारण होता है। चीड़ और देवदारु से जिस प्रकार इमारती और फर्नीचर का काम होता है, वैसा इन टेढ़े-तिरछे पेड़ों से बिल्कुल भी नहीं होता। इसलिए इनकी कोई पूछ भी नहीं करता, मूल्य भी इनका बहुत सस्ता होता है।

देखता हूँ जो पेड़ लम्बे गए हैं, उनने इधर-उधर शाखाएँ नहीं फोड़ी

हैं । ऊपर को एक ही दिशा में सीधे बढ़ते गए हैं; इधर-उधर मुड़ना इनने नहीं सीखा । शक्ति को एक ही दिशा में लगाए रहने से ऊँचे उठते रहना स्वाभाविक भी है । चीड़ और देवदारु के पेड़ों ने यही नीति अपनाई है, वे अपनी इस नीति की सफलता की सर्वोन्नत मस्तक से घोषणा कर रहे हैं । दूसरी ओर टेढ़े-तिरछे पेड़ हैं, जिनका मन अस्थिर, चित्त चंचल रहा, एक ओर टिका ही नहीं, विभिन्न दिशाओं का स्वाद चखना चाहा और यह देखना चाहा कि देखें किस दिशा में ज्यादा मजा है, किधर जल्दी सफलता मिलती है ? इस चंचलता में उन्होंने अनेक दिशाओं में अपने को बाँटा, अनेकानेक शाखाएँ फोड़ीं । छोटी-छोटी टहनियों से उनका कलेवर फूल गया, वे प्रसन्न भी हुए कि हमारी शाखाएँ हैं, इतना फैलाव-फुलाव है ।

दिन बीत गये । बेचारी जड़ें सब शाखाओं को खूब विकसित होने के लायक रस कहाँ से जुटा पातीं । प्रगति रुक गयी, टहनियाँ छोटी और दुबली रह गईं । पेड़ और तना भी कमजोर रहा और ऊँचाई भी न बढ़ सकी । अनेक भागों में विभक्त होने पर मजबूत तो रहती ही कहाँ से ? बेचारे यह दादरा और पिनखू के पेड़ अपनी डालियाँ छितराये रहे; लेकिन समझदार व्यक्तियों को उनका मूल्य कुछ जँचा नहीं । उन्हें कमजोर और बेकार माना गया । अनेक दिशाओं में फैलकर जल्दी से किसी न किसी दिशा में सफलता प्राप्त करने की उतावली में अन्तत: कुछ बुद्धिमत्ता साबित न हुई ।

देवदारु का एकनिष्ठ पेड़ मन ही मन इन टेढ़े-तिरछे पेड़ों की चाल चपलता पर मुस्कराता हो, तो आश्चर्य ही क्या है । हमारी वह चंचलता जिस के कारण एक लक्ष्य पर चीड़ की तरह सीधा बढ़ सकना सम्भव न हो सका, यदि विज्ञ व्यक्तियों की दृष्टि में हमारे ओछे रह जाने का कारण जँचता हो तो इसमें अनुचित ही क्या ?

पत्तीदार साग

साग भाजी का इधर शौक ही नहीं है । आलू छोड़कर और कोई

सब्जी यहाँ नहीं मिलती। नीचे के दूर प्रदेशों से आने और परिवहन के साधन न होने से आलू भी महँगा पड़ता है। चट्टी के दुकानदार एक रुपया सेर देते हैं। यों इधर छोटे-छोटे झरने हैं, उनसे जहाँ-तहाँ थोड़ी-थोड़ी सिंचाई भी होती है; किन्तु वहाँ भी साग-सब्जी होने का रिवाज नहीं है। रोज आलू खाते-खाते ऊब गया। सब्जी के बारे में वहाँ के निवासियों तथा दुकानदारों से चर्चा की, तो उन्होंने बताया कि जंगल में खड़ी हुई तरह-तरह की वनस्पतियों में से तीन पौधे ऐसे होते हैं, जिसके पत्तों का साग बनाया जाता है। (१) मोरचा (२) लिंगड़ा (३) कोला।

एक पहाड़ी को पारिश्रमिक के पैसे दिये और इनमें से कोई एक प्रकार की पत्तियाँ लाने को भेजा। पौधे चट्टी के पीछे ही खड़े थे वह बात की बात में मोरचा की पत्तियाँ दो-चार सेर तोड़ लाया। बनाने की तरकीब भी उसी से पूछी और उसी प्रकार उसे तैयार किया। बहुत स्वादिष्ट लगा। दूसरे दिन लिंगड़ा की और तीसरे दिन कोला की पत्तियाँ इसी प्रकार वहाँ के निवासियों से मँगवायी और बनाई-खायी। तीनों प्रकार की पत्तियाँ एक दूसरे से अधिक स्वादिष्ट लगीं। चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। एक महीने हरी सब्जी नहीं मिली थी, इसे खाकर तृप्ति अनुभव की।

उधर से पहाड़ी निवासी रास्ते में तथा चट्टियों पर मिलते ही थे उनसे जगह-जगह मैंने चर्चा की कि इतने स्वादिष्ट पत्तीदार साग जब आपके यहाँ पैदा होते हैं, तो उन्हें काम में क्यों नहीं लेते ? पत्तीदार साग तो स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत लाभदायक होते हैं। उनमें से किसी ने न तो मेरी सलाह को स्वीकार किया और न उन सागों को स्वादिष्ट तथा लाभप्रद ही माना। उपेक्षा दिखलाकर बात समाप्त कर दी।

सोचता हूँ इस संसार में किसी वस्तु का महत्त्व तभी समझ में आयेगा, जब उसकी उपयोगिता का पता हो। यह तीनों पत्तीदार साग मेरी दृष्टि में उपयोगी थे, इसलिए वे महत्त्वपूर्ण और बड़े स्वादिष्ट थे। इन पहाड़ियों ने इस उपयोगिता को न जाना था और न माना था, इसलिए उनके समीप यह मुफ्त का साग मनों खड़ा था, पर उससे वे लाभ नहीं

उठा पा रहे थे। किसी वस्तु या बात की उपयोगिता जाने और अनुभव किये बिना मनुष्य न तो उसकी ओर आकर्षित होता है और न उसका उपयोग करता है। इसलिए किसी वस्तु का महत्त्वपूर्ण होने से भी बढ़कर है उसकी उपयोगिता को जानना और उससे प्रभावित होना।

हमारे समीप भी कितने ही ऐसे तथ्य हैं, जिनकी उपयोगिता समझ ली जाय, तो उनसे आशाजनक लाभ हो सकता है। ब्रह्मचर्य, व्यायाम, ब्रह्ममुहूर्त में उठना, संध्या-वन्दन, समय का सदुपयोग, सात्विक आहार, नियमित दिनचर्या, व्यसनों से बचना, मधुर भाषण, शिष्टाचार आदि अनेकों तथ्य ऐसे हैं, जिनका उपयोग हमारे लिए अतीव लाभप्रद हैं और इनको व्यवहार में लाना कठिन भी नहीं है, फिर भी हममें से कितने ही इनकी उपेक्षा करते हैं, व्यर्थ समझते हैं और हृदयंगम करने पर होने वाले लाभों से वंचित रह जाते हैं।

पहाड़ी लोग उपयोगिता न समझने के कारण ही अपने बिल्कुल समीप प्रचुर मात्रा में खड़े पत्तीदार सागों का लाभ नहीं उठा पा रहे थे। इसके लिए उनकी निन्दा करना व्यर्थ है। हमारे समीप भी तो आत्म कल्याण के लिए अगणित उपयोगी तथ्य बिखरे पड़े हैं, पर हम ही कब उनको व्यवहार में लाते और लाभ उठाते हैं? मूर्खता में कोई किसी से पीछे भी क्यों रहे ?

बादलों तक जा पहुँचे

आज प्रातःकाल से ही वर्षा होती रही । यों तो पहाड़ों की चोटियों पर फिरते हुए बादल रोज ही दीखते, पर आज तो वे बहुत ही नीचे उतर आये थे। जिस घाटी को पार किया गया वह भी समुद्र तल से १० हजार फुट की ऊँचाई पर थी। बादलों को अपने ऊपर आक्रमण करते, अपने को बादल चीर कर पार होते देखने का दृश्य मनोरंजक भी था और कौतूहलवर्धक भी। धुनी हुई रुई के बड़े पर्वत की तरह भाप से बने ये उड़ते हुए बादल निर्भय होकर अपने पास चले आते। घने कुहरे की तरह एक सफेद अन्धेरा अपने चारों ओर घिर जाता, कपड़े में नमी आ जाती

और शरीर भी गीला हो जाता। तब वर्षा होती तो पास में ही दिखता कि किस प्रकार बादल गलकर पानी की बूँदों में परिणित होता जा रहा है।

अपने घर गाँव में जब हम बादलों को देखा करते थे, तब वे बहुत ऊँचे लगते थे। नानी कहा करती थीं कि जहाँ बादल हैं, वहीं देवताओं का लोक है। यह बादल देवताओं की सवारी है, इन्हीं पर चढ़कर वे इधर-उधर घूमा करते हैं और जहाँ चाहते हैं पानी वर्षा देते हैं। बचपन में कल्पना किया करता था कि काश मुझे भी एक बादल चढ़ने को मिल जाता तो कैसा मजा आता, उस पर चढ़कर चाहे जहाँ घूमने निकल जाता। उन दिनों मेरी दृष्टि में बादल की कीमत बहुत थी। हवाई जहाज से भी अनेक गुनी अधिक। जहाज चलाने को तो उसे खरीदना, चलाना, तेल जुटाना सभी कार्य बहुत ही कठिन थे, पर बादल के बारे में तो कुछ करना ही न था, बैठे कि चाहे जहाँ चल दिये।

आज बचपन की कल्पनाओं के समान बादलों पर बैठकर उड़े तो नहीं, पर उन्हें अपने साथ उड़ते तथा चलते देखा तो प्रसन्नता बहुत हुई। हम इतने ऊँचे चढ़े कि बादल हमारे पाँवों को छूने लगे। सोचता हूँ बड़े कठिन लक्ष्य जो बहुत ऊँचे और दूर मालूम पड़ते हैं, मनुष्य इसी तरह प्राप्त कर लेता होगा, पर्वत चढ़ने की कोशिश की तो बादल के बराबर पहुँच गया। कर्तव्य कर्म का हिमालय भी इतना ही ऊँचा है। यदि हम उस पर चढ़ते चलें तो साधारण भूमिका में विचरण करने वाले शिश्नोदर परायण लोगों की अपेक्षा वैसे ही अधिक ऊँचे उठ सकते हैं, जैसे कि निरन्तर चढ़ते-चढ़ते दस हजार फुट ऊँचाई पर आ गये।

बादलों को छूना कठिन है; पर पर्वत के उच्च शिखर के तो वह समीप ही होता है। कर्तव्य परायणता की ऊँची मात्रा हमें बादलों जितना ऊँचा उठा सकती है और जिन बादलों तक पहुँचना कठिन लगता है, वे स्वयं ही खिंचते हुए हमारे पास चले आते हैं। ऊँचा उठाने की प्रवृत्ति हमें बादलों तक पहुँचा देती है, हमारे समीप तक स्वयं उड़कर आने के लिए विवश कर देती है। बादलों को छूते समय ऐसी-ऐसी भावनाएँ मन

में उठती रहीं, पर बेचारी भावनाएँ अकेली क्या करें ? सक्रियता का बाना उन्हें पहनने को न मिले तो वे एक मानस तरंग मात्र ही रह जाती हैं ।

जंगली सेव

आज रास्ते में और भी कितने ही यात्रियों का साथ था, उसमें कुछ स्त्रियाँ भी थीं । रास्ते में बिन्ना के पेड़ों पर लगे हुए सुन्दर फल दीखे । स्त्रियाँ आपस में पूछने लगीं यह किस-किस के फल हैं । उन्हीं में से एक ने कहा यह जंगली सेव हैं । न मालूम उसने जंगली सेव की बात कहाँ से सुन रखी थी, निदान यही तय हुआ कि यह जंगली सेव के फल हैं । फल खूब लदे हुए थे । देखने में पीला और लाल रंग मिले हुए बहुत सुन्दर लगते थे और प्रतीत होता था खूब पके हैं ।

वह झुण्ड रुक गया । सयानी-सी लड़की पेड़ पर चढ़ गयी, लगता था उसे अपने ग्रामीण जीवन में पेड़ों पर चढ़ने का अभ्यास रहा है । उसने ४०-५० फल नीचे गिराये । नीचे खड़ी स्त्रियों ने उन्हें आपा-धापी के साथ बीना । किसी के हाथ ज्यादा लगे किसी के कम । जिसके हाथ कम लगे थे वह उससे लड़ रही थी जिसने ज्यादा बीने थे । लड़ती जाती थी और कहती जाती थी तूने रास्ता रोककर झपट कर अधिक बीन लिए, मुझे नहीं बीनने दिए । जिसके पास अधिक थे वह कह रही थी मैंने भाग-दौड़कर अपने पुरुषार्थ पर बीने हैं, जिसके हाथ पैर चलेंगे वही तो नफे में रहेगा । तुम्हारे हाथ-पैर चलते तो तुम मुझसे भी अधिक बीनतीं ।

इन फलों को अगली चट्टी पर भोजन के साथ खायेंगे, बड़े मीठे और सुन्दर यह होते हैं । रोटी के साथ अच्छे लगेंगे । धोती के पल्लों में बाँधकर वे प्रसन्न होती हुई चल रही थीं । कीमती फल इतनी तादाद में उनने अनायास ही पा लिए । लड़ाई-झगड़ा तो शान्त हो गया, पर ज्यादा-कम बीनने की बात पर मनोमालिन्य जो उत्पन्न हुआ था, वह बना हुआ था । एक-दूसरे को नाराजी के साथ घूर-घूरकर देखती थीं ।

चट्टी आई । सब लोग ठहरे । भोजन बना । फल निकाले गए । जिसने चखे उसी ने थू-थू किया । वे कड़वे थे । इतनी मेहनत से

लड़-झगड़ कर लाये हुए सुन्दर दीखने वाले जंगली सेव कडुवे और बेस्वाद थे। उसे देख कर उन्हें बड़ी निराशा हुई। सामने खड़ा हुआ पहाड़ी कुली हँस रहा था। उसने कहा "यह तो बिन्नी का फल है, उसे कोई नहीं खाता। इसकी गुठली का तेल भर निकालते हैं।" बे समझे-बूझे बीनने और लाने-खाने की मूर्खता पर वे सभी स्त्रियाँ सकुचा रही थीं।

मैं भी साथ था। इस सब नजारे के आदि से अन्त तक साथ था, वे आपस में उन फलों का नाम ले लेकर हँसी कर रहे थे। उन्हें हँसने का एक प्रसंग मिल गया था, दूसरों की भूल और असफलता पर आमतौर से लोगों को हँसी आती ही है। केवल पीला रंग और बढ़िया रूप देखकर उनके पका, मीठा और स्वादिष्ट फल होने की कल्पना करना, यह उनकी भूल थी। रूप से सुन्दर दीखने वाली सभी चीजें मधुर कहाँ होती हैं? यह उन्हें जानना चाहिए था। न जानने पर शर्मिन्दगी उठानी पड़ी और परेशानी भी हुई, आपस में लड़ाई-झगड़ा होता रहा सो व्यर्थ ही था।

सोचता हूँ कि बेचारी इन स्त्रियों की ही हँसी हो रही है और सारा समाज रंग-रूप पर मुग्ध होकर पतंगे की तरह जल रहा है, उस पर कोई नहीं हँसता। रूप की दुनियाँ में सौन्दर्य का देवता पुजता है, तड़क-भड़क, चमक-दमक सबको अपनी ओर आकर्षित करती है और उस प्रलोभन से लोग बेकार की चीजों पर लट्टू हो जाते हैं। अपनी राह खोटी करते हैं और अन्त में उसकी व्यर्थता पर इसी तरह पछताते हैं, जैसे यह स्त्रियाँ बिन्नी के कड़वे फलों को समेटकर पछता रही हैं। रूप पर मरने वाले यदि अपनी भूल समझें तो उन्हें गुणों का पारखी बनना चाहिए; पर यह तो तभी सम्भव है, जब रूप के आकर्षण में अपनी विवेक बुद्धि को नष्ट होने से बचा सकें।

बिन्नी के फल किसी ने नहीं खाये। वे फेंकने पड़े। खाने योग्य वे थे भी नहीं। धन-दौलत, रूप-यौवन, राग-रंग, विषय-वासना, मौज-मजा जैसी अगणित चीजें ऐसी हैं, जिन्हें देखते ही मन मचलता है; किन्तु दुनियाँ में चमकीली दीखने वाली चीजों में से अधिकांश ऐसी होती हैं,

जिन्हे पाकर पछताना और अन्त में उन्हें आज के जंगली सेवों की तरह फेंकना पड़ता है ।

सँभल कर चलने वाले खच्चर

पहाड़ों पर बकरी के अतिरिक्त खच्चर ही भार वाहन का काम करते हैं । सवारी के लिए भी उधर वे ही उपलब्ध हैं । जिस प्रकार अपने नगरों की सड़कों पर गाड़ी, ठेले, ताँगे, रिक्शे चलते हैं । उसी तरह चढ़ाव-उतार की विषम और खतरनाक पगडण्डियों पर यह खच्चर ही निरापद रूप से चलते-फिरते नजर आते हैं ।

देखा कि जिस सावधानी से ठोकर और खतरा बचाते हुए इन पगडण्डियों पर हम लोग चलते हैं उसी सावधानी से यह खच्चर भी चल रहे हैं । हमारे सिर की बनावट ऐसी है कि पैरों के नीचे की जमीन को देखते हुए ठोकरों को बचाते हुए आसानी से चल सकते हैं, पर खच्चर के बारे में ऐसी बात नहीं है । उनकी आँखें ऐसी जगह लगी हैं और गरदन का मुड़ाव ऐसा है जिससे सामने देखा जा सकता है, पर पैरों के नीचे देख सकना कठिन है । इतने पर भी खच्चर का हर कदम बड़ी सावधानी से और सही-सही रखा जा रहा था, जरा-सी चूक होने पर वह भी उसी तरह लुढ़ककर मर सकता है, जैसे कल एक बछड़ा गंगोत्री की सड़क पर चूर-चूर हुआ मरा पड़ा देखा था, बेचारे का पैर जरा-सी असावधानी से गलत जगह पर पड़ा कि अस्सी फुट की ऊँचाई से आ गिरा और उसकी हड्डी पसली चकनाचूर हो गयी । ऐसा कभी-कभी ही होता है । खच्चरों के बारे में तो ऐसी घटना कभी नहीं सुनी गयी ।

लादने वालों से पूछा तो उनने बताया कि खच्चर रास्ता चलने के बारे में बहुत ही सावधानी और बुद्धिमत्ता से काम लेता है । तेज चलता है; पर हर कदम को थाह-थाह कर चलता है । ठोकर या खतरा हो तो तुरन्त सँभल जाता है, बढ़े हुए कदम को पीछे हटा लेता है और दूसरी ठीक जगह पैर के सहारे तलाश कर वहीं कदम रखता है । चलने में

उसका ध्यान अपने पैरों और जमीन की स्थिति के सन्तुलन में ही लगा रहता है । यदि वह ऐसा न कर सका होता तो इस विषम भूमि में उसकी कुछ उपयोगिता ही न होती ।

खच्चर की बुद्धिमत्ता प्रशंसनीय है । मनुष्य जबकि बिना आगा-पीछा सोचे गलत दिशा में कदम उठाता रहता है और एक के बाद एक ठोकर खाते हुए भी सम्भलता नहीं, पर इन खच्चरों को तो देखो, कि हर कदम का सन्तुलन बनाए रखने में जरा भी नहीं चूकते । यदि इस ऊबड़-खाबड़ दुरंगी दुनियाँ के जीवन मार्ग पर चलते हुए इन पहाड़ी खच्चरों की भाँति अपना हर कदम सावधानी के साथ उठा सकने में समर्थ हो सकें तो हमारी स्थिति वैसी ही प्रशंसनीय हो, जैसी इस पहाड़ी प्रदेश में खच्चरों की है ।

गोमुख के दर्शन

आज माता गंगा के मूल उद्‌गम को देखने की चिर अभिलाषा पूरी हुई । गंगोत्री तक पहुँचने में जितना कठिन मार्ग मिला था, उससे कहीं अधिक दुर्गम यह गंगोत्री से गोमुख तक अठारह मील का टुकड़ा है । गंगोत्री तक के रास्ते में जब वह टूट-फूट होती है तो सरकारी सड़क विभाग के कर्मचारी ठीक करते रहते हैं, पर इस उपेक्षित मार्ग को जिसमें बहुत कम लोग ही कभी-कभी जाते हैं, कौन सुधारे । पर्वती मार्गों का हर साल बिगड़ना ही ठहरा । यदि एक-दो वर्ष उनकी उपेक्षा रहे तो वे काफी जटिल हो जाते हैं । कई जगह तो रास्ते ऐसे टूट गए थे कि वहाँ से गुजरना जीवन के साथ जुआ खेलने के समान था । एक पैर फिसलने की देर थी कि जीवन का अन्त ही समझना चाहिए ।

जिस हिमस्तूप (ग्लेशियर) से गंगा की छोटी-सी धारा निकली है, वह नीले रंग की है । माता का यह उद्‌गम हिमाच्छादित गिरि शृंगों से बहुत ही शोभनीय प्रतीत होता है । धारा का दर्शन एक साधारण से झरने के रूप में होता है । वह है तो पतली-सी ही पर वेग बहुत है । कहते हैं कि यह धारा कैलाश से-शिवजी की जटाओं से आती है । कैलाश से

गंगोत्री तक का सैकड़ों मील का रास्ता गंगा भीतर पार करती है और उसे करोड़ों टन ग्लेशियर का दबाव सहन करना पड़ता है, इसी से धारा इतनी तीव्र निकली है। जो हो भावुक हृदय के लिए यह धारा ऐसी ही लगती है, मानो माता की छाती से दूध की धारा निकलती है। उसे पान करके इसी में निमग्न हो जाने की एक ऐसी ही हूक उठती है, जैसी कि गंगा लहरी के रचियता जगन्नाथ मिश्र के मन में उठी थी और स्वरचित गंगा लहरी के एक-एक श्लोक का गान करते हुए एक-एक कदम उठाते और अन्तिम श्लोक गाते हुए भावावेश में माता की गोद में ही विलीन हो गए। कहते हैं कि स्वामी रामतीर्थ भी ऐसे ही भावावेश में गंगा में कूद पड़े थे और जल समाधि ले लिये।

अपनी हूक मैंने पान और स्नान से ही शान्त की। रास्ते भर उमंगें और भावनाएँ भी गंगाजल की भाँति हिलोरें लेती रहीं। अनेक विचार आते और जाते रहे। इस समय एक महत्त्वपूर्ण विचार मन में आया। उसे लिपिबद्ध करने का लोभ संवरण न कर सका। इसलिए उसे लिख ही रहा हूँ।

सोचता हूँ कि यहाँ गोमुख में गंगा एक नन्हीं सी पतली धारा मात्र है। रास्ते में हजारों झरने, नाले और नदी उसमें मिलते गए हैं। उनमें से कई तो गंगा की मूलधारा से कईयों गुने अधिक बड़े हैं, उन सबके संयोग से ही गंगा इतनी बड़ी और चौड़ी हुई है, जितनी कि हरिद्वार, कानपुर, प्रयाग आदि में दिखाई पड़ती है। उसमें बड़ी-बड़ी नहरें निकल गयी हैं। गोमुख के उद्‌गम का पानी तो उनमें से एक नहर के लिए भी पर्याप्त नहीं हो सकता, यदि कोई नदी- नाले रास्ते में न मिलें तो सम्भवत: सौ-पचास मील की मिट्टी ही उसे सोख ले और आगे बढ़ने का अवसर ही न रहे। गंगा महान् है, अवश्य ही महान् है, क्योंकि वह नदी-नालों को अपने स्नेह बन्धन में बाँध सकने में समर्थ हुई। उसने अपनी उदारता का आँचल फैलाया और छोटे-छोटे झरने-नालों को भी अपने बाहुपाश में आबद्ध करके छाती से चिपटाती चली गई। उसने गुण-दोषों की परवाह किए

सुमेरु पर्वत का स्वर्णिम शिखर
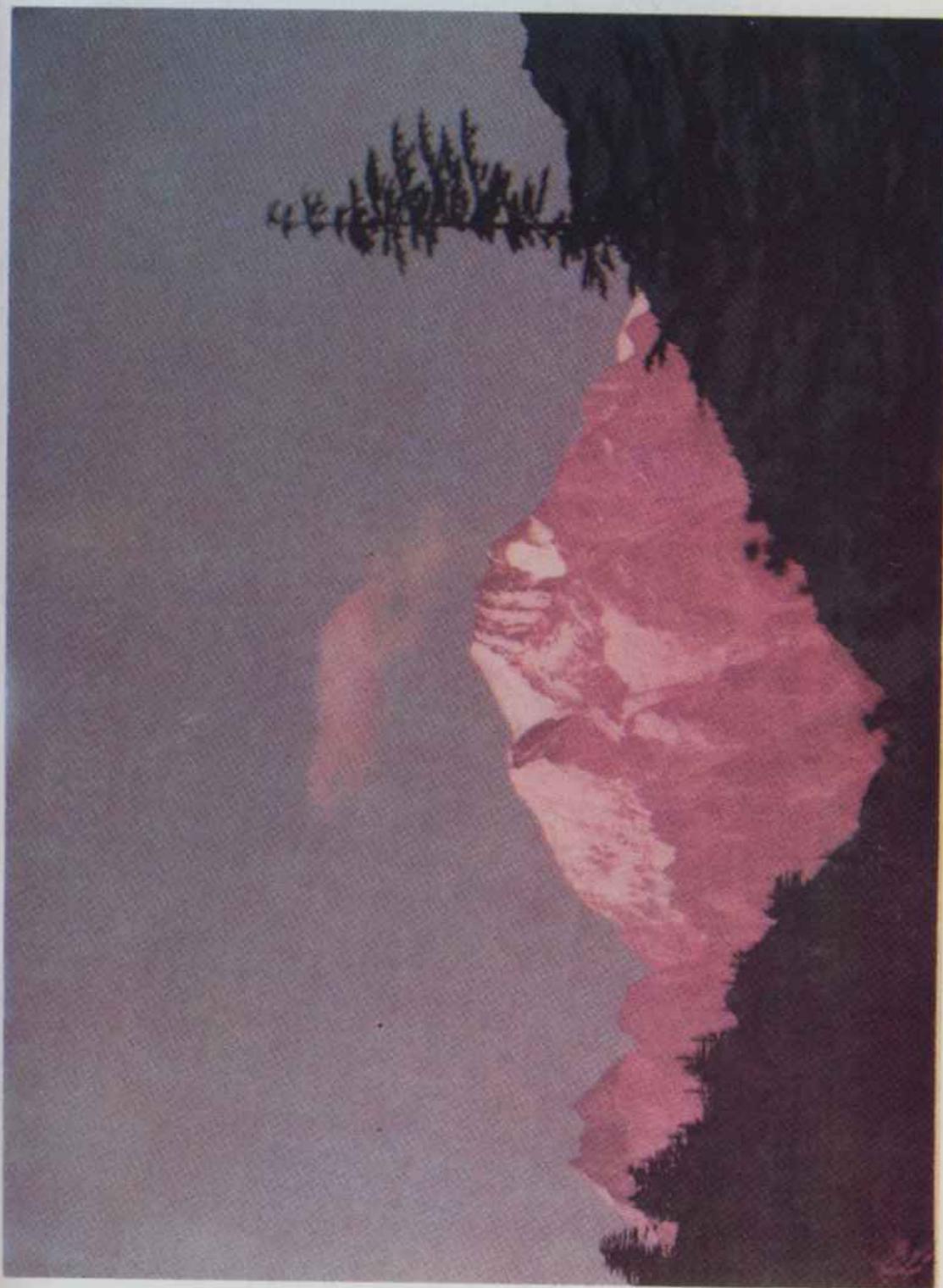
तपोवन से दृष्टिगोचर हिमालय की स्वर्णरोहीणि श्रेणी का निकटतम दृश्य
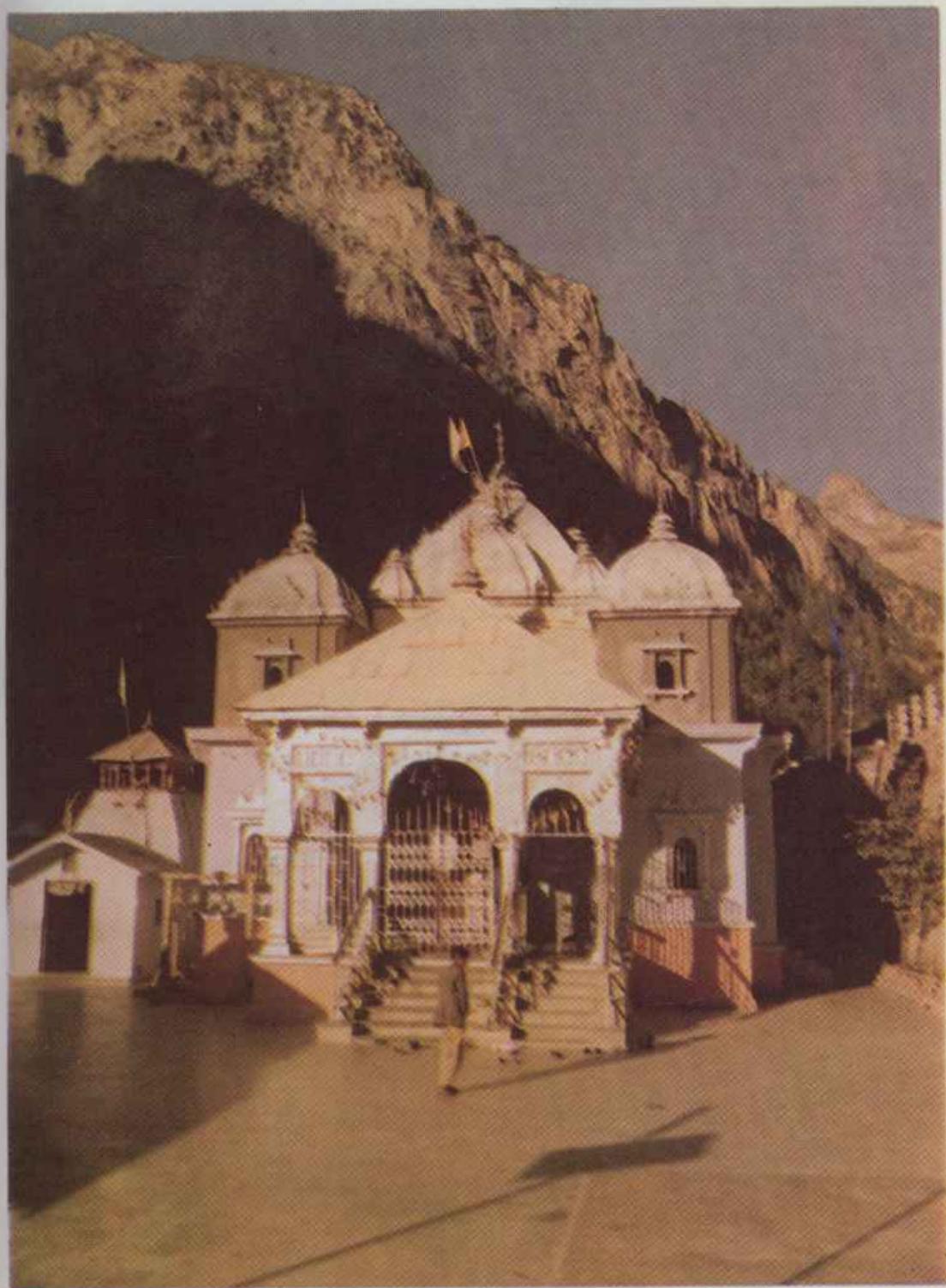
गंगोत्री मंदिर
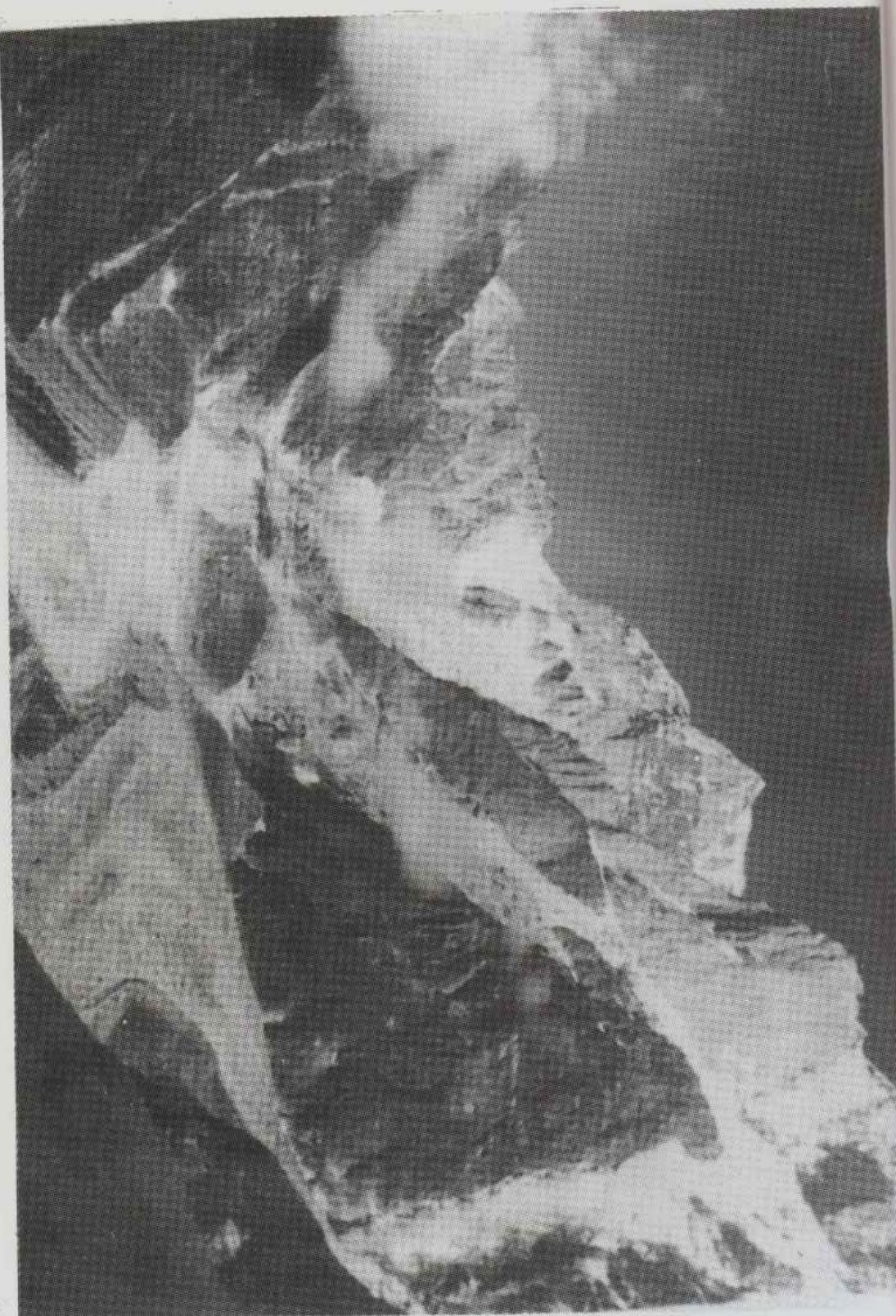
दुर्गम हिमालय में गंगोत्री-हिमखण्ड

बिना सभी को अपने उदार आँचल में स्थान दिया। जिसके अन्दर में आत्मीयता की, स्नेह-सौजन्य की अगाध मात्रा भरी पड़ी है, उसे जलराशि में कमी कैसे पड़ सकती है ? दीपक जब स्वयं जलता है, तो पतंगे भी उस पर जलने को तैयार हो जाते हैं। गंगा जब परमार्थ के उद्देश्य से संसार में शीतलता फैलाने निकली है, तो क्यों न नदी- नाले भी उसकी आत्मा में अपनी आहुति देंगे। गान्धी, बुद्ध, ईसा की आत्माओं में कितनी आत्माएँ आज अपने को आत्मसात कर चुकी हैं, यह सभी को स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है।

गंगा की सतह सबसे नीची है, इसलिए नदी-नालों का गिर सकना सम्भव हुआ। यदि उसने अपने को नीचा न बनाया होता, सबसे ऊपर उठकर चलती, अपना स्तर ऊँचा रखती, तो फिर नदी-नाले तुच्छ होते हुए भी उसके अहंकार को सहन न करते, उससे ईर्ष्या करते और अपना मुख दूसरी ओर मोड़ लेते। नदी-नालों की उदारता है सही, उनका त्याग प्रशंसनीय है, सही पर उन्हें इस उदारता और त्याग को चरितार्थ करने का अवसर गंगा ने अपने को नम्र बनाकर, नीचे स्तर पर रखकर ही दिया है। अन्य अनेकों महत्ताएँ गंगा की हैं, पर यह एक महत्ता ही उसकी इतनी बड़ी है कि जितना भी अभिनन्दन किया जाय कम है।

नदी-नदों ने, झरने और सरस्रोतों ने भी अपना अलग अस्तित्व कायम न रखने की अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं और कीर्ति स्थापित करने की लालसा को दमन करने की दूरदर्शिता की है, वे भी सर्वथा अभिनन्दनीय हैं। उनने अपने को खोकर गंगा की क्षमता महत्ता और कीर्ति बढ़ाई। सामूहिकता का, एकत्रीकरण का, मिल-जुलकर काम करने का महत्त्व समझा, इसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है। संगठन में ही शक्ति है, यह उन्होंने वाणी से नहीं, मन से नहीं, प्रत्यक्ष क्रिया से कर दिखाया। कर्म वीरता इसे ही कहते हैं। आत्म-त्याग के इस अनुपम आदर्श में जितनी महानता है, उतनी ही दूरदर्शिता भी है। यदि वे अपना अलग अस्तित्व बनाए रहने पर अड़े रहते, सोचते जो मेरी

क्षमता है, उसका यश मुझे ही मिलना चाहिए और गंगा में मिलने से इन्कार कर देते, तो अवश्य ही उनका अपना अस्तित्व भी अलग रहता और नाम भी; पर वह होता इतना छोटा कि उसे उपेक्षणीय और नगण्य ही माना जाता । उस दशा में उस जल को गंगा जल कोई नहीं कहता, उसे चरणों और सिर पर चढ़ाने को कोई लालायित न रहता ।

गोमुख पर आज जिस पुनीत जल की धारा में माता गंगा का दर्शन-मज्जन मैंने किया, वह तो उद्‌गम मात्र था, पूरी गंगा तो सहस्रों नदी-नालों के संगठन से सामूहिकता का कार्यक्रम लेकर चलने पर बनी है । गंगा सागर ने उसी का स्वागत किया, सारी दुनियाँ उसी को पूजती है । गौ मुख की तलाश में तो मुझ जैसे चन्द आदमी ही पहुँच पाते हैं ।

गंगा और नदी-नालों के सम्मिश्रण के महान् परिणाम यदि सर्वसाधारण के नेता और अनुयायियों की समझ में आ जाएँ, लोग सामूहिकता - सामाजिकता के महत्त्व को हृदयंगम कर सकें, तो एक ऐसी ही पवित्र पापनाशिनी, लोकतारिणी संघशक्ति का प्रादुर्भाव हो सकता है, जैसा गंगा का हुआ ।

तपोवन का मुख्य दर्शन

भगवती भागीरथी के मूल उद्‌गम गोमुख के दर्शन करके अपने को धन्य माना । यों देखने में एक विशाल चट्टान में फँसी हुई दरार में से दूध जैसे स्वच्छ जल का उछलता हुआ झरना बस यही गोमुख है । पानी का प्रवाह अत्यन्त वेग वाला होने से बीच में पड़े हुए पत्थरों से टकरा कर वह ऐसा उछलता है कि बहुत ऊपर तक छींटे उड़ते हैं । इन जल कणों पर जब सूर्य की सुनहरी किरणें पड़ती हैं, तो वे रंगीन इन्द्र धनुष जैसी बहुत ही सुन्दर दीखती हैं ।

इस पुनीत निर्झर से निकली हुई माता गंगा वर्षों से मानव जाति को जो तरण-तारण का संदेश देती रही है, जिस महान् संस्कृति को प्रवाहित करती रही है, उनके स्मरण मात्र से आत्मा पवित्र हो जाती है । इस दृश्य को आँखों में बसा लेने को जी चाहता है ।

चलना इससे आगे था। गंगा, वामक, नन्दनवन, भागीरथी शिखर, शिवलिंग पर्वत से घिरा हुआ तपोवन यही हिमालय का हृदय है। इस हृदय में अज्ञात रूप में अवस्थित कितनी ही ऊँची आत्माएँ संसार के तरण-तारण के लिए आवश्यक शक्ति भण्डार जमा करने में लगी हुई हैं। उसकी चर्चा न तो उचित है न आवश्यक। असामयिक होंगी, इसलिए उन पर प्रकाश न डालना ही ठीक है।

यहाँ से हमारे मार्गदर्शक ने आगे का पथ-प्रदर्शन किया। कई मील की विकट चढ़ाई को पार कर तपोवन के दर्शन हुए। चारों ओर हिमाच्छादित पर्वत शृंखलाएँ अपने सौन्दर्य की अलौकिक छटा बिखेरे हुए थीं, सामने वाला शिवलिंग पर्वत का दृश्य बिल्कुल ऐसा था मानों कोई विशालकाय सर्प फन फैलाये बैठा हो। भावना की आँखें जिन्हें प्राप्त हों, वह भुजंगधारी शिव का दर्शन अपने चर्म-चक्षुओं से ही यहाँ कर सकता है। दाहिनी ओर लालिमा लिए हुए सुमेरु हिमपर्वत है। कई और नीली आभा वाली चोटियाँ ब्रह्मपुरी कहलाती हैं, इससे थोड़ा और पीछे हटकर बाँई तरफ भागीरथ पर्वत है। कहते हैं कि यहीं बैठकर भगीरथ जी ने तप किया था, जिससे गंगावतरण सम्भव हुआ।

यों गंगोत्री में गौरी कुण्ड के पास एक भागीरथ शिला है, इसके बारे में भी भगीरथजी के तप की बात कही जाती है। वस्तुतः यह स्थान हिमाच्छादित भागीरथ पर्वत ही है, इन्जीनियर लोग इसी पर्वत में गंगा का उद्‌गम मानते हैं।

भागीरथ पर्वत के पीछे नीलगिरि पर्वत है, जहाँ से नीले जल वाली नील नदी प्रवाहित होती है। यह सब रंग-बिरंगे पर्वतों का स्वर्गीय दृश्य एक ऊँचे स्थान पर देखा जा सकता है। जब बर्फ पिघलती है तो भागीरथ पर्वत का विस्तृत फैला हुआ मैदान दुर्गम हो जाता है। बर्फ फटने से बड़ी-बड़ी चौड़ी खाई जैसी दरार पड़ जाती है। उनके मुख में कोई चला जाय, तो फिर उसके लौटने की कोई आशा नहीं की जा सकती। श्रावण, भाद्रपद महीने में जब बर्फ पिघल चुकी होती है, तो यह सचमुच ही

नन्दनवन जैसा लगता है । केवल नाम ही इसका नन्दनवन नहीं है, वरन् वातावरण भी वैसा ही है । उन दिनों केवल मखमल जैसी घास उगती है और दुर्लभ जड़ी-बूटियों की महक से सारा प्रदेश सुगन्धित हो उठता है । फूलों से यह धरती लद-सी जाती है । ऐसी सौन्दर्य स्रोत भूमि में यदि देवता निवास करते हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? पाण्डव सशरीर स्वर्गारोहण के लिए यहाँ आये होंगे, इसमें कुछ भी अत्युक्ति मालूम नहीं होती ।

हिमालय का यह हृदय तपोवन जितना मनोरम है, उतना ही दुर्गम भी है । शून्य से भी नीचे जमने लायक बिन्दु पर जब सर्दी पड़ती है, तब इस सौन्दर्य को देखने के लिए कोई बिरला ही ठहरने में समर्थ हो सकता है । बद्रीनाथ, केदारनाथ इस तीर्थ तपोवन की परिधि में आते हैं । यों वर्तमान रास्ते से जाने पर गोमुख से बद्रीनाथ लगभग ढ़ाई सौ मील है, पर यहाँ तपोवन से माणा घाटी होकर केवल बीस मील ही है । इस प्रकार केदारनाथ यहाँ से बारह मील है, पर हिमाच्छादित रास्ते सबके लिए सुगम नहीं है ।

इस तपोवन को स्वर्ग कहा जाता है, उसमें पहुँचकर मैंने यही अनुभव किया, मानो सचमुच स्वर्ग में ही खड़ा हूँ । यह सब उस परमशक्ति की कृपा का ही फल है, जिनके आदेश पर यह शरीर निमित्त मात्र बनकर कठपुतली की तरह चलता जा रहा है ।

सुनसान की झोपड़ी

इस झोपड़ी के चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ है । प्रकृति स्तब्ध है, सुनसान का सूनापन अखर रहा है । दिन बीता, रात आई । अनभ्यस्त वातावरण के कारण नींद नहीं आ रही । हिंस्रपशु, चोर, साँप, भूत आदि तो नहीं पर अकेलापन डरा रहा था । शरीर के लिए करवटें बदलने के अतिरिक्त कुछ काम न था । मस्तिष्क खाली था, चिन्तन की पुरानी आदत सक्रिय हो उठी । सोचने लगा- अकेलेपन में डर क्यों लगता है ?

भीतर से एक समाधान उपजा-मनुष्य समष्टि का अंश है । उसका पोषण समष्टि द्वारा ही हुआ । जल तत्त्व से ओत-प्रोत मछली का शरीर जैसे जल में ही जीवित रहता है, वैसे ही समष्टि का एक अंग, समाज का एक घटक, व्यापक चेतना का एक स्फुल्लिग होने के कारण उसे समूह में ही आनन्द आता है । अकेलेपन में उस व्यापक समूह चेतना से असम्बद्ध हो जाने के कारण आन्तरिक पोषण बन्द हो जाता है, इस अभाव में बेचैनी ही सूनेपन का डर हो सकता है ।

कल्पना ने और आगे दौड़ लगाई । स्थापित मान्यता की पुष्टि में उसने जीवन के अनेक संस्मरण ढूँढ़ निकाले । सूनेपन के, अकेले विचरण करने के अनेक प्रसंग याद आये, उनमें आनन्द नहीं था, समय ही काटा गया था । स्वाधीनता संग्राम में जेल यात्रा के उन दिनों की याद आई जब काल कोठरी में बन्द रहना पड़ा था । वैसे उस काल कोठरी में कोई कष्ट न था, पर सूनेपन का मानसिक दबाव पड़ा था । एक महीने के बाद जब कोठरी से छुटकारा मिला तो पके आम की तरह पीला पड़ गया था । खड़े होने में आँखों तले अन्धेरा आ जाता था ।

चूँकि सूनापन बुरा लग रहा था, इसलिए मस्तिष्क के सारे कलपुर्जे उसकी बुराई साबित करने में जी जान से लगे हुए थे । मस्तिष्क एक जानदार नौकर के समान ही तो ठहरा । अन्तस् की भावना और मान्यता जैसी होती है, उसी के अनुरूप वह विचारों का, तर्कों, प्रमाणों, कारणों और उदाहरणों का पहाड़ जमा कर देता है । बात सही या गलत- यह

निर्णय करना विवेक बुद्धि का काम है । मस्तिष्क की जिम्मेदारी तो इतनी भर है, कि अभिरुचि जिधर भी चले उसके समर्थन के लिए औचित्य सिद्ध करने के लिए आवश्यक विचार सामग्री उपस्थिति कर दे । अपना मन भी इस समय वही कर रहा था ।

मस्तिष्क ने अब दार्शनिक ढंग से सोचना आरम्भ कर दिया । स्वार्थी लोग अपने को अकेला मानते, अकेले ही लाभ-हानि की बात सोचते हैं । उन्हें अपना कोई नहीं दीखता, इसलिए वे सामूहिकता के आनन्द से वंचित रहते हैं । उनका अन्तःकरण सूने मरघट की तरह साँय-साँय करता रहता है । ऐसे अनेकों परिचित व्यक्तियों के जीवन चित्र सामने आ खड़े हुए जिन्हें धन वैभव की, श्री समृद्धि की कमी नहीं; पर स्वार्थ सीमित होने के कारण सभी उन्हें पराये लगते हैं, सभी को शिकायत और कष्ट है ।

विचार प्रवाह अपनी दिशा में तीव्र गति से दौड़ा चला जा रहा था, लगता था वह सूनेपन को अनुपयुक्त ही नहीं हानिकारक और कष्टदायक भी सिद्ध करके छोड़ेगा, तब अभिरुचि अपना प्रभाव उपस्थित करेगी- इस मूर्खता में पड़े रहने से क्या ? अकेले में रहने की अपेक्षा जन-समूह में रहकर जो कार्य हो वह सब क्यों न प्राप्त किया जाय ?

विवेक ने मन की गलत दौड़ को पहचाना और कहा- यदि सूनापन ऐसा ही अनुपयुक्त होता तो ऋषि और मुनि, साधक, सिद्ध, विचारक और वैज्ञानिक क्यों उसे खोजते ? क्यों उस वातावरण में रहते ? यदि एकान्त का कोई महत्त्व न होता, तो समाधि-सुख और आत्मदर्शन के लिए उसकी तलाश क्यों होती ? स्वाध्याय-चिन्तन के लिए तप और ध्यान के लिए क्यों सूनापन ढूँढ़ा जाता ? दूरदर्शी महापुरुषों का मूल्यवान् समय क्यों उस असुखकर अकेलेपन में व्यतीत होता ?

लगाम खींचने पर जैसे घोड़ा रुक जाता है, उसी प्रकार वह सूनेपन को कष्टकर सिद्ध करने वाला विचार प्रवाह भी रुक गया । निष्ठा ने कहा- एकान्त साधना की आत्म प्रेरणा असत् नहीं हो सकती । श्रद्धा ने कहा-

जो शक्ति इस मार्ग पर खींच लाई है, वह गलत मार्गदर्शन नहीं कर सकती। भावना ने कहा- जीव अकेला आता है अकेला जाता है, अकेला ही अपनी शरीर रूपी कोठरी में बैठा रोता है, क्या इस निर्धारित एकान्त विधान में उसे कुछ असुखकर प्रतीत होता है ? सूर्य अकेला चलता है, चन्द्रमा अकेला उदय होता है, वायु अकेला प्रवहमान है, इसमें उन्हें कुछ कष्ट है ?

विचार से विचार कटते हैं, मन:शास्त्र के इस सिद्धान्त ने अपना पूरा कार्य किया। आधी घड़ी पूर्व जो विचार अपनी पूर्णता अनुभव कर रहे थे, अब वे कटे वृक्ष की तरह गिर पड़े, प्रतिरोधी विचारों ने उन्हें परास्त कर दिया। आत्मवेत्ता इसलिए अशुभ विचारों को शुभ विचारों से काटने का महत्त्व बताते हैं। बुरे से बुरे विचार चाहे वे कितने ही प्रबल क्यों न हों, उत्तम प्रतिपक्षी विचारों से काटे जा सकते हैं। अशुभ मान्यताओं को शुभ मान्यताओं के अनुरूप कैसे बनाया जा सकता है, यह उस सूनी रात में करवटें बदलते हुए मैंने प्रत्यक्ष देखा। अब मस्तिष्क एकान्त की उपयोगिता- आवश्यकता और महत्ता पर विचार करने लगा।

रात धीरे-धीरे बीतने लगी। अनिद्रा से ऊबकर कुटिया के बाहर निकला, तो देखा कि गंगा की धारा अपने प्रियतम समुद्र से मिलने के लिए व्याकुल प्रेयसी की भाँति तीव्रगति से दौड़ी चली जा रही थी। रास्ते में पड़े हुए पत्थर उसका मार्ग अवरुद्ध करने का प्रयत्न करते, पर वह उनके रोके रुक नहीं पा रही थी। अनेकों पाषाण खण्डों की चोट से उसके अंग-प्रत्यंग घायल हो रहे थे; तो भी वह न किसी की शिकायत करती थी और न निराश होती थी। इन बाधाओं का उसे ध्यान भी न था। अन्धेरे का, सुनसान का उसे भय न था। अपने हृदयेश्वर से मिलन की व्याकुलता उसे इन सब बातों का ध्यान भी न आने देती थी। प्रिय के ध्यान में निमग्न हर-हर कल-कल का प्रेम गीत गाती हुई गंगा निद्रा और विश्राम को तिलांजलि देकर चलने से ही लौ लगाए हुए थी।

चन्द्रमा सिर के ऊपर आ पहुँचा था। गंगा की लहरों में उसके

अनेकों प्रतिबिम्ब चमक रहे थे, मानो एक ब्रह्म अनेक शरीरों में प्रविष्ट होकर एक से अनेक होने की अपनी माया दृश्य रूप से समझा रहा हो। दृश्य बड़ा सुहावना था। कुटिया से निकलकर गंगा तट के एक बड़े शिलाखण्ड पर जा बैठा और निर्निमेष होकर उस सुन्दर दृश्य को देखने लगा। थोड़ी देर में झपकी लगी और उस शीतल शिलाखण्ड पर ही नींद आ गई।

लगा कि वह जलधारा कमल पुष्पों-सी सुन्दर एक देव कन्या के रूप में परिणत होती है। वह अलौकिक शान्ति, समुद्र-सी सौम्य मुद्रा से ऐसी लगती थी मानो इस पृथ्वी की सारी पवित्रता एकत्रित होकर मानुषी शरीर में अवतरित हो रही हो। वह रुकी नहीं, समीप ही शिलाखण्ड पर जाकर विराजमान हो गई, लगा- मानो जागृत अवस्था में ही यह सब देखा जा रहा हो।

उस देव कन्या ने धीरे-धीरे अत्यन्त शान्त भाव से मधुर वाणी में कुछ कहना आरम्भ किया। मैं मन्त्रमोहित की तरह एकचित्त होकर सुनने लगा। वह बोली- नर-तनधारी आत्मा तू अपने को इस निर्जन वन में अकेला मत मान। दृष्टि पसार कर देख,- चारों ओर तू ही बिखरा पड़ा है। मनुष्य तक अपने को सीमित मत मान। इस विशाल सृष्टि में मनुष्य भी एक छोटा-सा प्राणी है उसका भी एक स्थान है, पर सब कुछ वही नहीं है।जहाँ मनुष्य नहीं वहाँ सूना है ऐसा क्यों माना जाय ? अन्य जड़ चेतन माने जाने वाले जीव भी विश्वात्मा के वैसे ही प्रिय हैं, जैसा मनुष्य तू। उन्हें क्यों अपना सहोदर नहीं मानता ? उनमें क्यों अपनी आत्मा नहीं देखता ? उन्हें क्यों अपना सहचर नहीं समझता। इस निर्जन में मनुष्य नहीं, पर अन्य अगणित जीवधारी मौजूद हैं।पशु-पक्षियों की, कीट-पतंगों की, वृक्ष-वनस्पतियों की अनेक योनियाँ इस गिरि कानन में निवास करती हैं। सभी में आत्मा है, सभी में भावना है। यदि तू इन अचेतन समझे जाने वाले चेतनों की आत्मा से अपनी आत्मा को मिला सके तो हे पथिक ! तू अपनी खण्ड आत्मा को समग्र आत्मा के रूप में देख सकेगा।

धरती पर अवतरित हुई वह दिव्य सौन्दर्य की अद्‌भुत प्रतिमा देव-कन्या बिना रुके कहती ही जा रही थी- "मनुष्य को भगवान् ने बुद्धि दी, पर वह अभागा उसका सुख कहाँ ले सका ? तृष्णा और वासना में उसने उस दैवी वरदान का दुरुपयोग किया और जो आनन्द मिल सकता था, उससे वंचित हो गया। वह प्रशंसा के योग्य प्राणी करुणा का पात्र, पर सृष्टि के अन्य जीव इस प्रकार की मूर्खता नहीं करते। उनके चेतन की मात्रा न्यून भले ही हो, पर भावना को उनकी भावना के साथ मिलाकर तो देख, अकेलापन कहाँ-कहाँ है ? सभी तो तेरे सहचर हैं, सभी तो तेरे बन्धु-बान्धव हैं।"

करवट बदलते ही नींद की झपकी खुल गई। हड़बड़ा कर उठ बैठा। चारों ओर दृष्टि दौड़ाई तो वह अमृत-सा सुन्दर उपदेश सुनाने वाली देवकन्या वहाँ न थी। लगा मानो वह इस सरिता में समा गई हो, मानुषी रूप छोड़ कर जलधारा में परिणत हो गई हो। वे मनुष्य की भाषा में कहे गये शब्द सुनाई नहीं पड़ते थे, पर हर-हर कल-कल की ध्वनि में भाव वे ही गूंज रहे थे, सन्देश वही मौजूद था। ये चमड़े वाले कान उसे सुन तो नहीं पा रहे थे, पर कानों की आत्मा उसे अब भी समझ रही थी- ग्रहण कर रही थी।

यह जागृति थी या स्वप्न ? सत्य था या भ्रम ? मेरे अपने विचार थे या दिव्य सन्देश ? कुछ समझ नहीं पा रहा था। आँखें खोली, सिर पर हाथ फिराया। जो सुना-देखा था उसे ढूँढ़ने का पुनः प्रयत्न किया, पर कुछ मिल नहीं पा रहा था, कुछ समाधान नहीं हो पा रहा था।

इतने में देखा कि उछलती हुई लहरों पर थिरकते हुए अनेक चन्द्र प्रतिबिम्ब एक रूप होकर चारों ओर से इकट्ठे हो रहे और मुस्कराते हुए कुछ कह रहे हैं। इनकी बात सुनने की चेष्टा की, तो नन्हें बालक जैसे वे प्रतिबिम्ब कहने लगे। हम इतने चन्द्र तुम्हारे साथ खेलने के लिए हँसने-मुस्कराने के लिए मौजूद हैं। क्या हमें तुम अपना सहचर न मानोगे ? क्या हम अच्छे साथी नहीं हैं ? मनुष्य तुम अपनी स्वार्थी

दुनियाँ में से आये हो, जहाँ जिससे जिसकी ममता होती है, जिससे जिसका स्वार्थ सधता है, वह प्रिय लगता है । जिससे स्वार्थ सधा वह प्रिय अपना, जिससे स्वार्थ न सधा वह पराया, वह बिराना । यही तुम्हारी दुनियाँ का दस्तूर है न, उसे छोड़ो । हमारी दुनियाँ का दस्तूर सीखो । संकीर्णता नहीं, यहाँ ममता नहीं, यहाँ स्वार्थ नहीं, यहाँ सभी अपने हैं । सबमें अपनी ही आत्मा है, ऐसा सोचा जाता है । तुम भी इसी प्रकार सोचो । फिर हम इतने चन्द्र बिम्बों के सहचर रहते तुम्हें सूनापन प्रतीत न होगा ।

तुम तो यहाँ कुछ साधना करने आये हो न, साधना करने वाली इन गंगा को देखते नहीं, प्रियतम के प्रेम में तल्लीन होकर उनसे मिलने के लिए कितनी तल्लीनता और आतुरता से चली जा रही है । रास्ते के विघ्न उसे कहाँ रोक पाते हैं ? अन्धकार और अकेलेपन को वह कहाँ देखती है ? लक्ष्य की यात्रा से एक क्षण के लिए भी उसका मन कहाँ विरत होता है ? यदि साधना का पथ अपनाना है तो तुम्हें भी यह अपनाना होगा । जब प्रियतम को पाने के लिए तुम्हारी आत्मा भी गंगा की धारा की तरह द्रुतगामी होगी तो कहाँ भीड़ में आकर्षण लगेगा और सूनेपन में भय जगेगा ? गंगातट पर निवास करना है तो गंगा की प्रेम साधना भी सीखो साधक !

शीतल लहरों के साथ अनेक चन्द्र बालक नाच रहे थे । मानो अपनी मथुरा में कभी हुआ-रास, नृत्य प्रत्यक्ष हो रहा हो । लहरें गोपियाँ बनीं, चन्द्र ने कृष्ण रूप धारण किया, हर गोपी के साथ एक कृष्ण ! कैसा अद्‌भुत रास नृत्य यह आँखें देख रही थीं । मन आनन्द से विभोर हो रहा था । ऋतम्भरा प्रज्ञा कह रही थी-"देख-देख ! अपने प्रियतम की झाँकी देख । हर काया में आत्मा उसी प्रकार नाच रही है, जैसे गंगा की शुभ्र लहरों के साथ एक ही चन्द्रमा के अनेक बिम्ब नृत्य कर रहे हों ।"सारी रात बीत गयी उषा की अरुणिमा प्राची में प्रकट होने लगी ।जो देखा, अद्‌भुत था ।सूनेपन का भय चला गया । कुटी की ओर पैर धीरे-धीरे लौट रहे थे ।सूनेपन का प्रकाश अब भी मस्तिष्क में मौजूद था ।

सुनसान के सहचर

मनुष्य की यह अद्‌भुत् विशेषता है कि वह जिन परिस्थितियों में रहने लगता है, उसका अभ्यस्त हो जाता है। जब मैंने इस निर्जन वन की इस सुनसान कुटिया में प्रवेश किया था, तो सब ओर सूना ही सूना लगने लगता था। अन्तर का सुनसान जब बाहर निकल पड़ता, तो सर्वत्र सुनसान ही दीखता था; पर अब जबकि अन्तर की लघुता धीरे-धीरे विस्मृत होती जा रही है, चारों ओर अपने ही अपने हँसते-बोलते नजर आते हैं, तो अब सूनापन कहाँ? अब अन्धेरे में डर किसका ?

अमावस्या की अन्धेरी रात, बादल घिरे हुए, छोटी-छोटी बूँदें, ठण्डी वायु का कम्बल को पार कर भीतर घुसने का प्रयत्न। छोटी सी कुटिया में, पत्ते की चटाई पर पड़ा हुआ यह शरीर आज फिर असुखकर अन्यमनस्कता अनुभव करने लगा। नींद आज फिर उचट गई। विचारों का प्रवाह फिर चल पड़ा। स्वजन सहचरों से भरे सुविधाओं से सम्पन्न घर और इस सघन तमिस्रा की चादर लपेटे वायु के झोंके से थर-थर काँपती हुई, जल से भीग कर टपकती पर्णकुटी की तुलना होने लगी। दोनों के गुण-दोष गिने जाने लगे।

शरीर असुविधा अनुभव कर रहा था। मन भी उसी का सहचर ठहरा, वही क्यों इस असुविधा में प्रसन्न होता? इसकी मिली भगत जो है। आत्मा के विरुद्ध ये दोनों एक हो जाते हैं। मस्तिष्क तो इनका खरीदा हुआ वकील है। जिसमें इनकी अरुचि होती है, उसी का समर्थन करते रहना इसने अपना व्यवसाय बनाया हुआ है। राजा के दरबारी जिस प्रकार हवा का रुख देखकर बात करने की कला में निपुण होते थे, राजा को प्रसन्न रखने उसकी हाँ में हाँ मिलाने में दक्षता प्राप्त किए रहते थे, वैसा ही यह मस्तिष्क भी है। मन की रुचि देखकर उसी के अनुकूल यह विचार प्रवाह को छोड़ देता है। समर्थन में अगणित कारण हेतु, प्रयोजन और प्रमाण उपस्थित कर देना इसके बाँये हाथ का खेल है। सुविधाजनक घर के गुण और इस कष्टकारक निर्जन के दोष बताने में वह बैरिस्टरों के कान

काटने लगा । सनसनाती हुई हवा की तरह उसका अभिभाषण भी जोरों से चल रहा था ।

इतने में सिरहाने की ओर छोटे से छेद में बैठे हुए झींगुर ने अपना मधुर संगीत गाना आरम्भ कर दिया । एक से प्रोत्साहन पाकर दूसरा बोला, दूसरे की आवाज सुनकर तीसरा, फिर उससे चौथा, इस प्रकार कुटी में अपने-अपने छेदों में बैठे, कितने ही झींगुर एक साथ गाने लगे । उनका गायन यों उपेक्षा बुद्धि से तो अनेकों बार सुना था । उसे कर्कश, व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण समझा था, पर आज मन के लिये कुछ काम न था । वह ध्यानपूर्वक इस गायन के उतार-चढ़ाव को परखने लगा । निर्जन की निन्दा करते-करते वह थक भी गया था । इस चंचल बन्दर को हर घड़ी नये-नये प्रकार के काम जो चाहिए । झींगुर की गान-सभा का समा बँधा, तो उसी में रस लेने लगा ।

झींगुर ने बड़ा मधुर गाना गाया । उसका गीत मनुष्य की भाषा में न था, पर भाव वैसे ही मौजूद जैसे मनुष्य सोचता है । उसने गाया हम असीम क्यों न बनें ? असीमता का आनन्द क्यों न लें ? सीमा ही बन्धन है, असीमता में मुक्ति का तत्त्व भरा है । जिसका इन्द्रियों में ही सुख सीमित है, जो कुछ चीजों और कुछ व्यक्तियों को ही अपना मानता है, जिसका स्वार्थ थोड़ी-सी कामनाओं तक ही सीमित है, वह बेचारे, क्षुद्र प्राणी, इस असीम परमात्मा के असीम विश्व में भरे हुए असीम आनन्द का भला कैसे अनुभव कर सकेगा ? जीव तू असीम हो, आत्मा का असीम विस्तार कर सर्वत्र आनन्द ही आनन्द बिखरा पड़ा है; उसे अनुभव कर अमर हो जा ।

इकतारे पर जैसा बीतराग ज्ञानियों की मण्डली मिलजुलकर कोई निर्वाण का पद गा रही हो, वैसे ही यह झींगुर निर्विघ्न होकर गा रहे थे, किसी को सुनाने के लिए नहीं । स्वान्तः सुखाय ही उनका यह प्रयास चल रहा था । मैं भी उसी में विभोर हो गया । वर्षा के कारण क्षतिग्रस्त कुटिया से उत्पन्न असुविधा विस्मरण हो गयी, सुनसान में शान्तिगीत गाने वाले

सहचरों ने उदासीनता को हटाकर उल्लास का वातावरण उत्पन्न कर दिया।

पुरानी आदतें छूटने लगीं। मनुष्यों तक सीमित आत्मीयता से बढ़कर प्राणिमात्र तक विस्तृत होने का प्रयत्न किया, तो दुनियाँ बहुत चौड़ी हो गई। मनुष्य के साथ रहने के सुख की अनुभूति से बढ़कर अन्य प्राणियों के साथ भी वैसी ही अनुभूति करने की प्रक्रिया सीख ली। अब इस निर्जन वन में भी कहीं सूनापन दिखाई नहीं देता।

आज कुटिया से बाहर निकलकर इधर-उधर भ्रमण करने लगा, तो चारों ओर सहचर दिखाई देने लगे। विशाल वृक्ष पिता और पितामह जैसे दीखने लगे। कषाय बल्कलधारी भोज पत्र के पेड़ ऐसे लगते थे, मानों गेरुआ कपड़ा पहने कोई तपसी महात्मा खड़े होकर तप कर रहे हों। देवदारु और चीड़ के लम्बे-लम्बे पेड़ प्रहरी की तरह सावधान खड़े थे, मानों मनुष्य जाति में प्रचलित दुर्बुद्धि को अपने समाज में न आने देने के लिए कटिबद्ध रहने का व्रत उनने लिया हुआ हो।

छोटे-छोटे लता-गुल्म नन्हें-मुन्ने बच्चे-बच्चियों की तरह पंक्ति बना कर बैठे थे। पुष्पों में उनके सिर सुशोभित थे। वायु के झोंकों के साथ हिलते हुए ऐसे लगते थे, मानों प्रारम्भिक पाठशाला में छोटे छात्र सिर हिला-हिला कर पहाड़े याद कर रहे हों।पल्लवों पर बैठे हुए पशु-पक्षी मधुर स्वर में ऐसे चहक रहे थे, मानों यक्ष-गन्धर्वों की आत्माएँ खिलौने जैसे सुन्दर आकार धारण करके इस वन श्री का उद्गम गुणगान और अभिवन्दन करने के लिए ही स्वर्ग से उतरे हों। किशोर बालकों की तरह हिरन उछल-कूद मचा रहे थे। जंगली भेंड़ें (बरेड़) ऐसी निश्चिन्त होकर घूम रही थीं, मानों इस प्रदेश की गृहलक्ष्मी यही हों। मन बहलाने के लिए चाबीदार कीमती खिलौने की तरह छोटे-छोटे कीड़े पृथ्वी पर चल रहे थे।उनका रंग,रूप, चाल-ढाल सभी कुछ देखने योग्य था। उड़ते हुए पतंगे,' फूलों के सौन्दर्य से प्रतिस्पर्द्धा कर रहे थे। हमारे से कौन अधिक सुन्दर और कौन अधिक असुन्दर है, इसकी होड़ लगी हुई है।

नवयौवन का भार जिससे सम्भलने में न आ रहा हो, ऐसी इतराती हुई पर्वतीय नदी बगल में ही बह रही थी। उसकी चंचलता और उच्छृंखलता का दर्प देखते ही बनता था। गंगा में और भी नदियाँ आकर मिलती हैं। मिलन के संगम पर ऐसा लगता था, मानो दो सहोदर बहिनें ससुराल जाते समय गले मिल रही हों, लिपट रही हों। पर्वतराज हिमालय ने अपनी सहस्र पुत्रियों (नदियों) का विवाह समुद्र के साथ किया हो। ससुराल जाते समय में बहिनें कितनी आत्मीयता के साथ मिलती हैं, सड़क पर खड़े-खड़े इस दृश्य को देखते-देखते जी नहीं अघाता। लगता है हर घड़ी इसे देखते ही रहें।

वयोवृद्ध राजपुरुषों और लोकनायकों की तरह पर्वत शिखर दूर-दूर ऐसे बैठे थे, मानो किसी गम्भीर समस्या को सुलझाने में दत्तचित्त होकर संलग्न हों। हिमाच्छादित चोटियाँ उनके श्वेत केशों की झाँकी करा रही थीं। उन पर उड़ते हुए छोटे बादल ऐसे लगते थे, मानो ठण्ड से बचाने के लिए नई रुई का बढ़िया टोपा उन्हें पहनाया जा रहा है। कीमती शाल-दुशालाओं में उनके नग्न शरीर को लपेटा जा रहा हो।

जिधर भी दृष्टि उठती, उधर एक विशाल कुटुम्ब अपने चारों ओर बैठा हुआ नजर आता था। उनके जबान न थी, वे बोलते न थे, पर उनकी आत्मा में रहने वाला चेतन बिना शब्दों के ही बहुत कुछ कहता था। जो कहता था हृदय से कहता था और करके दिखाता था। ऐसी बिना शब्दों की किन्तु अत्यन्त मार्मिक वाणी इससे पहले सुनने को नहीं मिली थी। उनके शब्द सीधे आत्मा तक प्रवेश करते और रोम-रोम को झंकृत किये देते थे। अब सूनापन कहाँ ? अब भय किसका ? सब ओर सहचर ही सहचर जो बैठे थे।

सुनहरी धूप ऊँचे शिखरों से उतरकर पृथ्वी पर कुछ देर के लिए आ गई थी, मानो अविद्याग्रस्त हृदय में सत्संगवश स्वल्प स्थाई ज्ञान उदय हो गया। ऊँचे पहाड़ों की आड़ में सूरज इधर-उधर ही छिपा रहता है, केवल मध्याह्न को ही कुछ घण्टों के लिए उनके दर्शन होते हैं। उनकी

किरणें सभी सिकुड़ते हुए जीवों में चेतना की एक लहर दौड़ा देती हैं। सभी में गतिशीलता और प्रसन्नता उमड़ने लगती है। आत्मज्ञान का सूर्य भी प्राय: वासना और तृष्णा की चोटियों के पीछे छिपा रहता है, पर जब कभी जहाँ कहीं वह उदय होगा वहीं उसकी सुनहरी रश्मियाँ एक दिव्य हलचल उत्पन्न करती हुई अवश्य दिखाई देंगी।

अपना शरीर भी स्वर्णिम रश्मियों का आनन्द लेने के लिए एक कुटिया से बाहर निकला और मखमल के कालीन सी बिछी हरी घास पर टहलने की दृष्टि से एक ओर चल पड़ा। कुछ ही दूर रंग-बिरंगें फूलों का एक बड़ा पठार था। आँखें उधर ही आकर्षित हुईं और पैर उसी दिशा में उठ चले।

छोटे बच्चे सिर पर रंगीन टोप पहने हुए पास-पास बैठकर किसी खेल की योजना बनाने में व्यस्त हों, ऐसे लगते थे मानो वे पुष्प-सज्जित पौधे हों। मैं उन्हीं के बीच जाकर बैठ गया। लगा-जैसे मैं भी एक फूल हूँ। यदि ये पौधे मुझे भी अपना साथी बना लें तो मुझे भी अपना खोया बचपन पाने का पुण्य अवसर मिल जाए।

भावना आगे बढ़ी। जब अन्तराल हुलसता है तब तर्कवादी कुतर्की विचार भी ठण्डे पड़ जाते हैं। मनुष्य के भावों में प्रबल रचना शक्ति है। ये अपनी दुनियाँ आप बसा लेते हैं। काल्पनिक ही नहीं, शक्तिशाली भी-सजीव भी। ईश्वर और देवताओं तक की रचना उसने अपनी भावना के बल पर की है और उनमें अपनी श्रद्धा को पिरोकर उन्हें इतना महान् बनाया है जितना कि वह स्वयं है। अपने भाव फूल बनने को मचलें तो वैसा ही बनने में देर न थी। लगा कि इन पंक्ति बनाकर बैठे हुए पुष्प बालकों ने मुझे भी सहचर मानकर अपने खेल में भाग लेने के लिए सम्मिलित कर लिया है।

जिसके पास बैठा था वह बड़े से पीले फूल वाला पौधा बड़ा हँसोड़ तथा वाचाल था। अपनी भाषा में उसने कहा- दोस्त ! तुम मनुष्यों में व्यर्थ जा जन्मे। उनकी भी कोई जिन्दगी है ? हर समय चिन्ता, हर समय

उधेड़बुन, हर समय तनाव, हर समय कुढ़न। अब की बार तुम पौधे बनना, हमारे साथ रहना। देखते नहीं हम सब कितने प्रसन्न, कितने खिलते हैं, जीवन को खेल मानकर जीने में कितनी शान्ति है, यह सब लोग जानते हैं। देखते नहीं हमारे भीतर का आन्तरिक उल्लास सुगन्ध के रूप में बाहर निकल रहा है। हमारी हँसी फूलों के रूप में बिखरी पड़ रही है। सभी हमें प्यार करते हैं। सभी को हम प्रसन्नता प्रदान करते हैं। आनन्द से जीते हैं और जो पास आता है, उसी को आनन्दित कर देते हैं। जीवन जीने की यही कला है। मनुष्य बुद्धिमानी का गान करता है; पर किस काम की वह बुद्धिमानी, जिससे जीवन को साधारण सी, हँस-खेलकर जीने की प्रक्रिया हाथ न आए।

फूल ने कहा-"मित्र तुम्हें ताना मारने के लिए नहीं, अपनी बड़ाई करने के लिए भी नहीं, यह मैंने एक तथ्य ही कहा। अच्छा बताओ जब हम धनी, विद्वान्, गुणी, सम्पन्न वीर और बलवान् न होते हुए भी अपने जीवन को हँसते हुए तथा सुगन्ध फैलाते हुए जी सकते हैं, तो मनुष्य वैसा क्यों नहीं कर सकता ? हमारी अपेक्षा असंख्य गुने साधन उपलब्ध होने पर यदि वह चिन्तित और असन्तुष्ट रहता है तो क्या इसका कारण उसकी बुद्धि हीनता मानी जायेगी ?"

"प्रिय तुम बुद्धिमान् हो, जो उन बुद्धिहीनों को छोड़कर कुछ समय हमारे साथ हँसने-खेलने चले आए। चाहो तो हम अकिंचनों से भी जीवन विद्या का एक महत्वपूर्ण तथ्य सीख सकते हो।"

मेरा मस्तक श्रद्धा से नत हो गया-"पुष्प मित्र, तुम धन्य हो। स्वल्प साधन होते हुए भी तुमको जीवन कैसा जीना चाहिए यह जानते हो। एक हम हैं- जो उपलब्ध सौभाग्य को कुढ़न में ही व्यतीत करते हैं। मित्र सच्चे उपदेशक हो, वाणी से नहीं जीवन से सिखाते हो, बाल-सहचर यहाँ सीखने आया हूँ, तो तुमसे बहुत सीख सकूँगा। सच्चे साथी की तरह सिखाने में संकोच न करना।"

हँसोड़ पीला पौधा, खिलखिलाकर हँस पड़ा, सिर हिला-हिलाकर
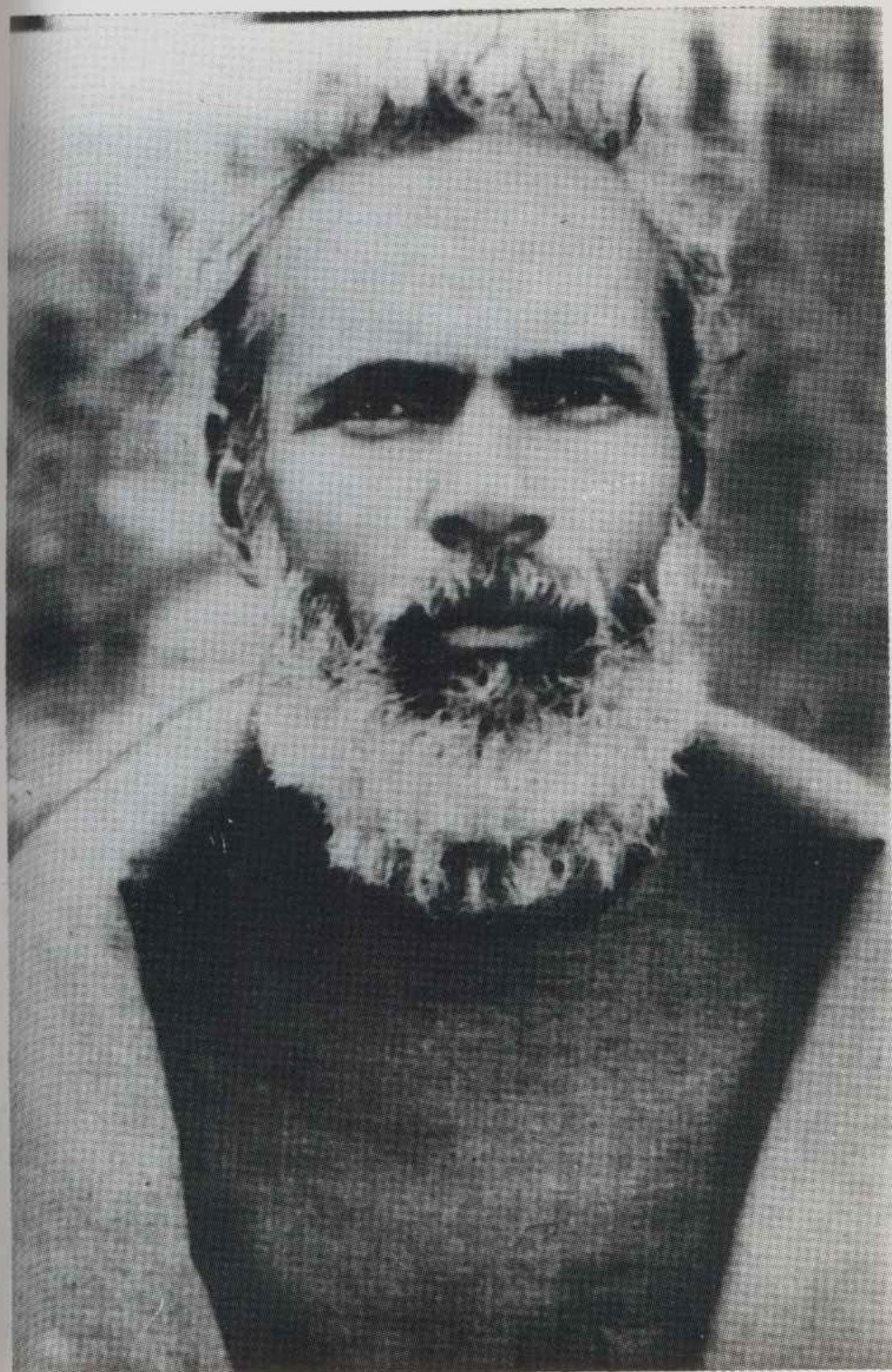
सुनसान का एक साधक 'लेखक'

गंगा के उद्गम गोमुख का निकटतम शिखर नीलकंठ
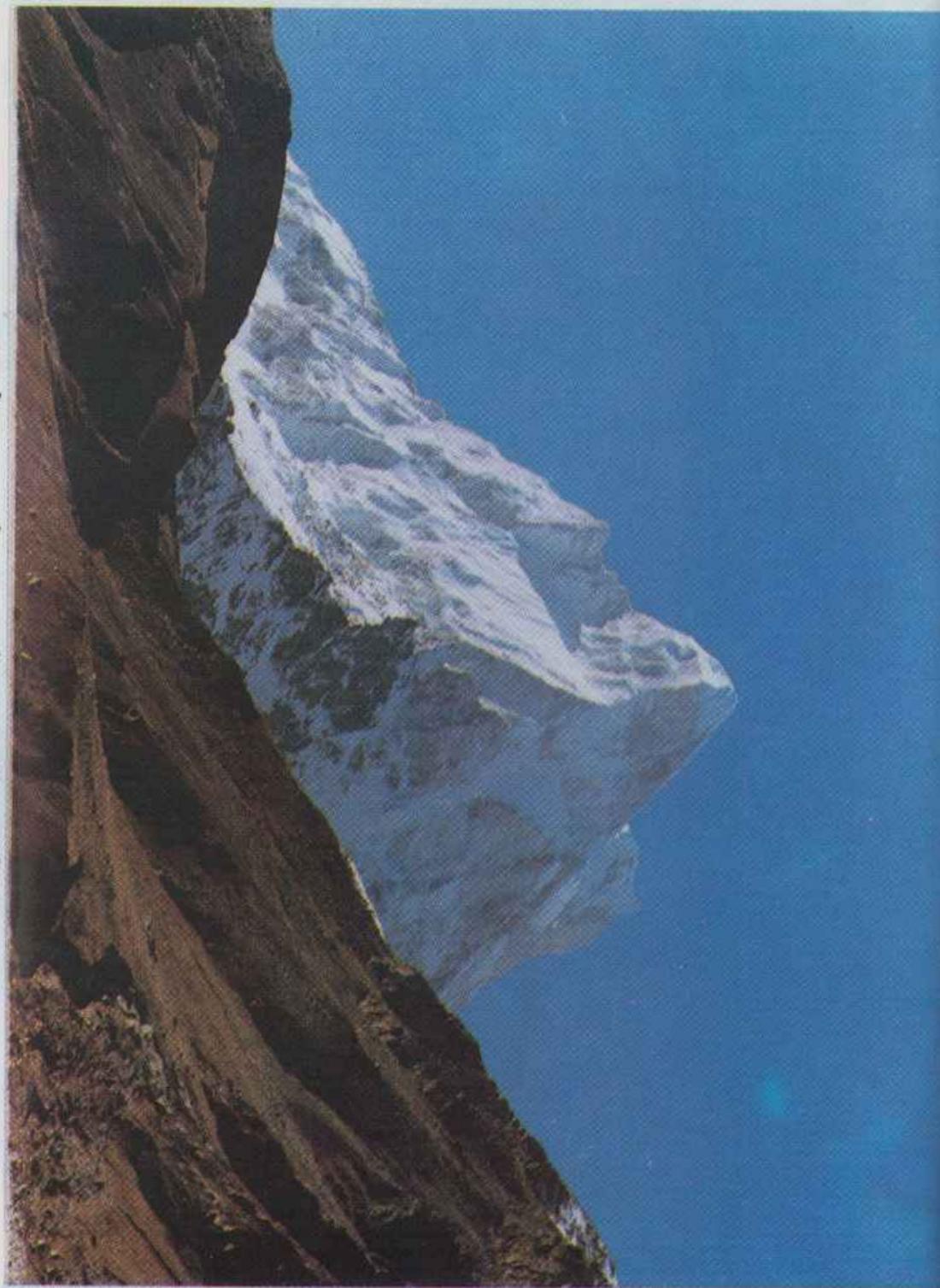
हिमाच्छादित हिमालय का अमृतपान करते हुए परम पूज्य गुरुदेव

गंगा का उद्गम-गोमुख, पीछे भागीरथ पर्वत

वह स्वीकृति दे रहा था और कहने लगा- सीखने की इच्छा रखने वाले के पग-पग पर शिक्षक मौजूद हैं; पर आज सीखना कौन चाहता है? सभी तो अपनी अपूर्णता के अहंकार में ऐंठे-ऐंठे से फिरते हैं। सीखने के लिए हृदय का द्वार खोल दिया जाए तो बहती हुई वायु की तरह शिक्षा, सच्ची शिक्षा स्वयमेव हमारे हृदय में प्रवेश करने लगे।

विश्व-समाज की सदस्यता

नित्य की तरह आज भी तीसरे पहर उस सुरम्य वन श्री के अवलोकन के लिए निकला। भ्रमण में जहाँ स्वास्थ्य सन्तुलन की, व्यायाम की दृष्टि रहती है, वहाँ सूनेपन के सहचर से इस निर्जन वन में निवास करने वाले परिजनों से कुशल क्षेम पूछने और उनसे मिलकर आनन्द लाभ करने की भावना भी रहती है। अपने आपको मात्र मनुष्य जाति का सदस्य मानने की संकुचित दृष्टि जब विस्तीर्ण होने लगी, तो वृक्ष वनस्पति, पशु-पक्षी, कीट-पतंगों के प्रति ममता और आत्मीयता उमड़ी। ये परिजन मनुष्य की बोली नहीं बोलते और न उनकी सामाजिक प्रक्रिया ही मनुष्य जैसी है, फिर भी अपनी विचित्रताओं और विशेषताओं के कारण इन मनुष्येतर प्राणियों की दुनियाँ भी अपने स्थान पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार धर्म, जाति, रंग, प्रान्त, देश,भाषा, भेद आदि के आधार पर मनुष्यों-मनुष्यों के बीच संकुचित साम्प्रदायिकता फैली हुई है, वैसी ही एक संकीर्णता यह भी है कि आत्मा अपने आपको केवल मनुष्य जाति का सदस्य माने। अन्य प्राणियों को अपने से भिन्न जाति का समझे या उन्हें अपने उपयोग को, शोषण की वस्तु समझे। प्रकृति के अगणित पुत्रों में से मनुष्य भी एक है। माना कि उसमें कुछ अपने ढंग की विशेषताएँ हैं; पर अन्य प्रकार की अगणित विशेषताएँ सृष्टि के अन्य जीव-जन्तुओं में भी मौजूद हैं और वे भी इतनी बड़ी हैं कि मनुष्य उन्हें देखते हुए अपने आपको पिछड़ा हुआ ही मानेगा।

आज भ्रमण करते समय यही विचार मन में उठ रहे थे। आरम्भ में इस निर्जन के जो सदस्य जीव-जन्तु और वृक्ष-वनस्पति तुच्छ लगते थे, अब अनुपयोगी प्रतीत होते थे, अब ध्यानपूर्वक देखने से वे भी महान् लगने लगे और ऐसा प्रतीत होने लगा कि भले ही मनुष्य को प्रकृति ने बुद्धि अधिक दे दी हो; पर अन्य अनेकों उपहार उसने अपने इन निर्बुद्धि

माने जाने वाले पुत्रों को भी दिये हैं। उन उपहारों को पाकर वे चाहें तो मनुष्य की अपेक्षा अपने आप पर कहीं अधिक गर्व कर सकते हैं।

इस प्रदेश में कितने प्रकार की चिड़ियाएँ हैं, जो प्रसन्नतापूर्वक दूर-दूर देशों तक उड़कर जाती हैं। पर्वतों को लाँघती हैं। ऋतुओं के अनुसार अपने प्रदेश पंखों से उड़कर बदल लेती हैं। क्या मनुष्य को यह उड़ने की विभूति प्राप्त हो सकी है। हवाई जहाज बनाकर उसने थोड़ा-सा प्रयत्न किया तो है, पर चिड़ियों के पंखों से उसकी तुलना क्या हो सकती है ? अपने आपको सुन्दर बनाने के लिए सजावट की रंग-बिरंगी वस्तुएँ उसने आविष्कृत की है, पर चित्र-विचित्र पंखों वाली, स्वर्ग की अप्सराओं जैसी चिड़ियों और तितलियों जैसी रूप-सज्जा कहाँ प्राप्त हुई है।

सर्दी से बचने के लिए लोग कितने ही तरह के वस्त्रों का प्रयोग करते हैं; पर रोज ही आँखों के सामने गुजरने वाले बरड़ (जंगली भेड़) और रीछ के शरीर पर जमे हुए बालों जैसे गरम ऊनी कोट शायद अब तक किसी मनुष्य को उपलब्ध नहीं हुए। हर छिद्र से हर घड़ी दुर्गन्ध निकालने वाले मनुष्य को हर घड़ी अपने पुष्पों से सुगन्ध बिखेरने वाले लता, गुल्मों से क्या तुलना हो सकती है। साठ-सत्तर वर्ष में जीर्ण-शीर्ण होकर मर खप जाने वाले मनुष्य की इन अजगरों से क्या तुलना की जाए, जो चार सौ वर्ष की आयु को हँसी-खुशी पूरा कर लेते हैं। वट और पीपल के वृक्ष भी हजार वर्ष तक जीवित हैं।

कस्तूरी मृग जो सामने वाले पठार पर छलाँग मारते हैं किसी भी मनुष्य को दौड़कर परास्त कर सकते हैं। भूरे बाल वालों से मल्ल युद्ध में क्या कोई मनुष्य जीत सकता है। चींटी की तरह अधिक परिश्रम करने की सामर्थ्य भला किस आदमी में होगी। शहद की मक्खी की तरह फूलों में से कौन मधु संचय कर सकता है। बिल्ली की तरह रात के घोर अन्धकार में देख सकने वाली दृष्टि किसे प्राप्त है। कुत्तों की तरह घ्राण-शक्ति के आधार पर बहुत कुछ पहचान लेने की क्षमता भला किसमें

होगी । मछली की तरह निरन्तर जल में कौन रह सकता है । हंस के समान नीर-क्षीर विवेक किसे होगा ! हाथी के समान बल किस व्यक्ति में है ! इन विशेषताओं से युक्त प्राणियों को देखते हुए मनुष्य का यह गर्व करना मिथ्या मालूम पड़ता है कि वह संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है ।

आज के भ्रमण में यही विचार मन में घूमते रहे कि मनुष्य ही सब कुछ नहीं है । सर्वश्रेष्ठ भी नहीं है, सबका नेता भी नहीं है । उसे बुद्धि, बल मिला सही । उनके आधार पर उसने अपने सुख-साधन बढ़ाये हैं यह भी सही है, पर साथ ही यह भी सही है कि इसे पाकर उसने अनर्थ ही किया । सृष्टि के अन्य प्राणी जो उसके भाई थे, यह धरती उनकी भी माता ही थी, उस पर जीवित रहने, फलने और स्वाधीन रहने का उन्हें भी अधिकार था, पर मनुष्य ने सबको पराधीन बना डाला, सबकी सुविधा और स्वतन्त्रता को बुरी तरह पद-दलित कर डाला । पशुओं को जंजीर से कसकर उससे अत्यधिक श्रम लेने के लिए पैशाचिक उत्पीड़न किया, उनके बच्चों के हक का दूध छीनकर स्वयं पीने लगा, निर्दयतापूर्वक वध करके मांस खाने लगा, पक्षियों और जलचरों के जीवन को भी उसने अपनी स्वाद प्रियता और विलासिता के लिए बुरी तरह नष्ट किया । मांस के लिए, दवाओं के लिए, फैशन के लिए, विनोद के लिए उनके साथ कैसा नृशंस व्यवहार किया, उस पर विचार करने से दम्भी मनुष्य की सारी नैतिकता मिथ्या ही प्रतीत होती है ।

जिस प्रदेश में अपनी निर्जन कुटिया है उसमें पेड़-पौधों के अतिरिक्त जलचर, थलचर, नभचर जीव जन्तुओं की भी बहुतायत है । जब भ्रमण को निकलते हैं, तो अनायास ही उनसे भेंट करने का अवसर मिलता है । आरम्भ के दिनों में वे डरते थे; पर अब तो पहचान गये हैं । मुझे अपने कुटुम्ब का ही एक सदस्य मान लिया है । अब न वे मुझसे डरते हैं और न अपने को ही उनसे डर लगता है । दिन-दिन समीपता और घनिष्ठता बढ़ती जाती है । लगता है इस पृथ्वी पर ही एक महान् विश्व मौजूद है । उस विश्व में प्रेम, करुणा, मैत्री सहयोग, सौजन्य,

सौन्दर्य, शान्ति सन्तोष आदि स्वर्ग के सभी चिह्न मौजूद हैं । उससे मनुष्य दूर है । उसने अपनी एक छोटी-सी दुनियाँ अलग बना रखी है- मनुष्यों की दुनियाँ । इस अहंकारी और दुष्ट प्राणी ने भौतिक विज्ञान की लम्बी-चौड़ी बातें बहुत की हैं । महानता और श्रेष्ठता के, शिक्षा और नैतिकता के लम्बे-चौड़े विवेचन किए हैं; पर सृष्टि के अन्य प्राणियों के साथ उसने जो दुर्व्यवहार किया है, उससे उस सारे पाखण्ड का पर्दाफाश हो जाता है, जो वह अपनी श्रेष्ठता अपने समाज और सदाचार की श्रेष्ठता को बखानते हुए प्रतिपादित किया करता है ।

आज विचार बहुत गहरे उतर गये, रास्ता भूल गया, कितने ही पशु-पक्षियों को आँखें भर-भरकर देर तक देखता रहा । वे भी खड़े होकर मेरी विचारधारा का समर्थन करते रहे । मनुष्य ही इस कारण सृष्टि का श्रेष्ठ प्राणी नहीं माना जा सकता कि उसके पास दूसरों की अपेक्षा बुद्धिबल अधिक है । यदि बल ही बड़प्पन का चिह्न हो तो दस्यु, सामन्त, असुर, पिशाच, बेताल, ब्रह्मराक्षस आदि की श्रेष्ठता को मस्तक नवाना पड़ेगा । श्रेष्ठता के चिह्न हैं सत्य, प्रेम, न्याय, शील, संयम, उदारता, त्याग, सौजन्य, विवेक, सौहार्द । यदि इनका अभाव रहा तो बुद्धि का शस्त्र धारण किये हुए नर-पशु- उन विकराल नख और दाँतों वाले हिंसक पशुओं से कहीं अधिक भयंकर हैं । हिंसक पशु भूखे होने पर आक्रमण करते हैं, पर यह बुद्धिमान् नर-पशु तो तृष्णा और अहंकार के लिए भी भारी दुष्टता और क्रूरता का निरन्तर अभियान करता रहता है ।

देर बहुत हो गयी थी । कुटी पर लौटते-लौटते अन्धेरा हो गया । उस अन्धेरे में बहुत रात गए तक सोचता रहा कि मनुष्य की ही भलाई की, उसी की सेवा की, उसी का सान्निध्य किया, उसी की उन्नति की, बात "जो हम सोचते रहते हैं क्या इसमें जातिगत पक्षपात भरा नहीं है ? क्या यह संकुचित दृष्टिकोण नहीं हैं ? सद्गुणों के आधार पर ही मनुष्य को श्रेष्ठ माना जा सकता है, अन्यथा वह वन्य जीवधारियों की तुलना में अधिक दुष्ट ही है । हमारा दृष्टिकोण मनुष्य की समस्याओं तक ही क्यों

न सीमित रहे ? हमारा विवेक मनुष्येतर प्राणियों के साथ आत्मीयता बढ़ाने, उनके सुख-दुःख में सम्मिलित होने के लिए अग्रसर क्यों न हो ? हम अपने को मानव समाज की अपेक्षा विश्व समाज का एक सदस्य क्यों न मानें ?"

इन्हीं विचारों में रात बहुत बीत गई । विचारों के तीव्र दबाव में नींद बार-बार खुलती रही। सपने बहुत दीखे। हर स्वप्न में विभिन्न जीव-जन्तुओं के साथ क्रीड़ा विनोद स्नेह-संलाप करने के दृश्य दिखाई देते रहे । उन सबके निष्कर्ष यही थे कि अपनी चेतना विभिन्न प्राणियों के साथ स्वजन सम्बन्धियों जैसी घनिष्ठता अनुभव कर रही है । आज के सपने बड़े ही आनन्ददायक थे । लगता रहा जैसे एक छोटे क्षेत्र से आगे बढ़कर आत्मा विशाल विस्तृत क्षेत्र को अपना क्रीड़ांगन बनाने के लिए अग्रसर हो रहा है । कुछ दिन पहले इस प्रदेश का सुनसान अखरता था, पर अब तो सुनसान जैसी कोई जगह ही दिखाई नहीं पड़ती । सभी जगह विनोद करने वाले सहचर मौजूद हैं । वे मनुष्य की तरह भले ही न बोलते हों, उनकी परम्पराएँ मानव समाज जैसी भले ही न हों, पर इन सहचरों की भावनाएँ मनुष्य की अपेक्षा हर दृष्टि से उत्कृष्ट ही हैं । ऐसे क्षेत्र में रहते हुए तो ऊबने का अब कोई कारण प्रतीत नहीं होता ।

लक्ष्य पूर्ति की प्रतीक्षा

आहार हल्का हो जाने से नींद भी कम हो जाती है । फल अब तो दुर्लभ हैं; पर शाकों से भी फलों वाली सात्विकता प्राप्त हो सकती है । यदि शाकाहार पर रहा जाए, तो साधक के लिए चार-पाँच घण्टे की नींद पर्याप्त हो जाती है ।

जाड़े की रात लम्बी होती है । नींद जल्दी ही पूरी हो गयी । आज चित्त कुछ चंचल था । यह साधना कब तक पूरी होगी ? लक्ष्य कब तक प्राप्त होगा ? सफलता कब तक मिलेगी ? ऐसे-ऐसे विचार उठ रहे थे । विचारों की उलझन भी कैसी विचित्र है, जब उनका जंजाल उमड़ पड़ता है, तो शान्ति की नाव डगमगाने लगती है । इस विचार प्रवाह में न भजन

बन पड़ रहा था, न ध्यान लग रहा था। चित्त ऊबने लगा। इस ऊब को मिटाने के लिए कुटिया से निकला और बाहर टहलने लगा। आगे बढ़ने की इच्छा हुई। पैर चल पड़े। शीत तो अधिक थी, पर गंगा माता की गोद में बैठने का आकर्षण भी कौन कम मधुर है, जिसके सामने शीत की परवाह हो। तट से लगी हुई एक शिला, जल राशि के काफी भीतर तक धँसी पड़ी थी। अपने बैठने का वही प्रिय स्थान था। कम्बल ओढ़कर उसी पर जा बैठा। आकाश की ओर देखा, तो तारों ने बताया कि अभी दो बजे हैं।

देर तक बैठा तो झपकी आने लगी। गंगा का कल-कल, हर-हर शब्द भी मन को एकाग्र करने के लिए ऐसा ही है जैसा शरीर के लिए झूला-पालना। बच्चे को झूला-पालने में डाल दिया जाए तो शरीर के साथ ही नींद आने लगती है। जिस प्रदेश में इन दिनों यह शरीर है, वहाँ का वातावरण इतना सौम्य है कि वह जलधारा का दिव्य कलरव ऐसा लगता है, मानों वात्सल्यमयी माता लोरी गा रही हो। चित्त एकाग्र होने के लिए यह ध्वनि लहरी कलरव नादानुसंधान से किसी भी प्रकार कम नहीं है। मन को विश्राम मिला। शान्त हो गया। झपकी आने लगी। लेटने को जी चाहा। पेट में घुटने लगाये। कम्बल ने ओढ़ने-बिछाने के दोनों का काम साध लिया। नींद के हलके झोंके आने आरम्भ हो गये।

लगा कि नीचे पड़ी शिला की आत्मा बोल रही है। उसकी वाणी कम्बल को चीरते हुए कानों से लेकर हृदय तक प्रवेश करने लगी। मन तन्द्रित अवस्था में भी ध्यानपूर्वक सुनने लगा।

"शिला की आत्मा बोली-"साधक ! क्या तुझे आत्मा में रस नहीं आता, जो सिद्धि की बात सोचता है? भगवान् के दर्शन से क्या भक्तिभावना में कम रस है ? लक्ष्य प्राप्ति से क्या यात्रा- मंजिल कम आनन्ददायक है? फल से क्या कर्म का माधुर्य फीका है ? मिलन से क्या विरह में कम गुद-गुदी है? तू इस तथ्य को समझ। भगवान् तो भक्त से ओत-प्रोत ही है। उसे मिलने में देरी ही क्या है ? जीव को

साधना का आनन्द लूटने का अवसर देने के लिए ही उसने अपने को पर्दे में छिपा लिया है और झाँक-झाँक कर देखता रहता है कि भक्त, भक्ति के आनन्द में सरावोर हो रहा है या नहीं ? जब वह रस में निमग्न हो जाता है तो भगवान् भी आकर उसके साथ रस-नृत्य करने लगता है। सिद्धि वह है जब भक्त कहता है- मुझे सिद्धि नहीं भक्ति चाहिए। मुझे मिलन ही नहीं विरह की अभिलाषा है। मुझे सफलता में नहीं, कर्म में आनन्द है। मुझे वस्तु नहीं, भाव चाहिए।

शिला की आत्मा आगे भी कहती ही गई। उसने और भी कहा- साधक सामने देख, गंगा अपने प्रियतम से मिलने के लिए कितनी आतुरतापूर्वक दौड़ी चली जा रही है। उसे इस दौड़ में कितना आनन्द आता है। समुद्र से मिलन तो उसका कब का हो चुका; पर उसमें रस कहाँ पाया ? जो आनन्द प्रयत्न में है, भावना में है, वह मिलन में कहाँ ? गंगा उस मिलन से तृप्त नहीं हुई, उसने मिलन प्रयत्न को अनन्त काल तक जारी रखने का व्रत लिया हुआ है, फिर अधीर साधक तू ही क्यों उतावली करता है। तेरा लक्ष्य महान् है, तेरा पथ महान् है, तू महान् है, तेरा कार्य भी महान् है। महान् उद्देश्य के लिए महान् धैर्य चाहिए। बालकों जैसी उतावली का यहाँ क्या प्रयोजन ? सिद्धि कब तक मिलेगी यह सोचने में मन लगाने से क्या लाभ ?

शिला की आत्मा बिना रुके कहती रही। उसने आत्म विश्वास पूर्वक कहा-मुझे देख। मैं भी अपनी हस्ती को उस बड़ी हस्ती में मिला देने के लिए यहाँ पड़ी हूँ। अपने इस स्थूल शरीर को विशाल शिला खण्ड को- सूक्ष्म अणु बनाकर उस महासागर में मिला देने की साधना कर रही हूँ। जल की प्रत्येक लहर से टकराकर मेरे शरीर के कुछ कण टूटते हैं और वे रज कण बनकर समुद्र की ओर बह जाते हैं। इस तरह मिलन की बूँद-बूँद से स्वाद ले रही हूँ, तिल-तिल अपने को घिस रही हूँ, इस प्रकार प्रेमी आत्मदान का आनन्द कितने अधिक दिन तक लेने का रस ले रही हूँ यदि उतावले अन्य पत्थरों की तरह बीच जल धारा में

पड़कर लुढ़कने लगती तो सम्भवत: कब की मैं लक्ष्य तक पहुँच जाती। फिर यह तिल-तिल अपने प्रेमी के लिये घिसने का जो आनन्द है, उससे तो वंचित ही रह गई होती।

उतावली न कर, उतावली में जलन है, खीझ है, निराशा है, अस्थिरता है, निष्ठा की कमी है, क्षुद्रता है। इन दुर्गुणों के रहते कौन महान् बना है? साधक का पहला लक्षण है- धैर्य ! धैर्य की रक्षा ही भक्ति की परीक्षा है। जो अधीर हो गया सो असफल हुआ। लोभ और भय के, निराशा और आवेश के- जो अवसर साधक के सामने आते हैं उनमें और कुछ नहीं केवल धैर्य परखा जाता है। तू कैसा साधक है, जो अभी इस पहले पाठ को भी नहीं पढ़ा।"

शिला की आत्मा ने बोलना बन्द कर दिया। मेरी तन्द्रा टूटी। इस उपालम्भ ने अन्त:करण को झकझोर डाला, "पहला पाठ भी कभी नहीं पढ़ा, और लगा है बड़ा साधक बनने।" लज्जा और संकोच से सिर नीचा हो गया, अपने को समझाता और धिक्कारता रहा। सिर उठाया तो देखा, ऊषा की लाली उदय हो रही है। उठा और नित्य कर्म की तैयारी करने लगा।

हमारी जीवन साधना के अन्तरंग पक्ष-पहलू

हमारे बहुत से परिजन हमारी साधना और उसकी उपलब्धियों के बारे में कुछ अधिक जानना चाहते हैं और यह स्वाभाविक भी है। हमारे स्थूल जीवन के जितने अंश प्रकाश में आये हैं, वे लोगों की दृष्टि में अद्‌भुत हैं। उनमें सिद्धियों, चमत्कारों और अलौकिकताओं की झलक देखी जा सकती है। कौतूहल के पीछे उसके रहस्य जानने की उत्सुकता छिपी रहनी स्वाभाविक है, सो अगर लोग हमारी आत्म-कथा जानना चाहते हैं, उसके लिए इन दिनों विशेष रूप से दबाव देते हैं। तो उसे अकारण नहीं कहा जा सकता।

यों हम कभी छिपाव के पक्ष में नहीं रहे- दुराव, छल, कपट, हमारी आदत में नहीं; पर इन दिनों हमारी विवशता है कि जब तक रंग-मंच पर प्रत्यक्ष रूप से हमारा अभिनय चल रहा है, तब तक वास्तविक को बता देने पर दर्शकों का आनन्द दूसरी दिशा में मुड़ जाएगा और जिस कर्त्तव्यनिष्ठा को सर्वसाधारण में जगाना चाहते हैं, वह प्रयोजन पूरा न हो सकेगा। लोग रहस्यवाद के जंजाल में उलझ जायेंगे, इससे हमारा व्यक्तित्त्व भी विवादास्पद बन जाएगा और जो करने कराने हमें भेजा गया है उसमें भी अड़चन पड़ेगी। निःसंदेह हमारा जीवन-क्रम अलौकिकताओं से भरा पड़ा है। रहस्यवाद के पर्दे इतने अधिक हैं कि उन्हें समय से पूर्व खोला जाना अहितकर ही होगा। पीछे वालों के लिए उसे छोड़ देते हैं कि वस्तु स्थिति की सचाई को प्रमाणिकता की कसौटी पर कसें और जितनी हर दृष्टि से परखी जाने पर सही निकले उससे यह अनुमान लगाएँ कि अध्यात्म विद्या कितनी समर्थ और सारगर्भित है। उस पारस से छूकर एक नगण्य-सा व्यक्ति अपने लोहे जैसे तुच्छ कलेवर को स्वर्ण जैसा बहुमूल्य बनाने में कैसे समर्थ, सफल हो सका। इस दृष्टि से हमारे जीवन-क्रम में प्रस्तुत हुए अनेक रहस्यमय तथ्यों की समय आने पर शोध की जा सकती है और उस समय उस कार्य में हमारे अति निकटवर्ती सहयोगी कुछ सहायता भी कर सकते हैं; पर अभी वह समय

से पहले की बात है । इसलिए उस पर वैसे ही पर्दा रहना चाहिए, जैसे कि अब तक पड़ा रहा है ।

आत्म कथा लिखने के आग्रह को केवल इस अंश तक पूराकर सकते हैं कि हमारा साधना क्रम कैसे चला। वस्तुत: हमारी सारी उपलब्धियाँ प्रभु समर्पित साधनात्मक जीवन प्रक्रिया पर ही अवलम्बित हैं । उसे जान लेने से इस विषय में रुचि-रखने वाले हर व्यक्ति को वह रास्ता मिल सकता है, जिस पर चलकर कि आत्मिक प्रगति और उससे जुड़ी विभूतियाँ प्राप्त करने का आनन्द लिया जा सकता है । पाठकों को अभी इतनी ही जानकारी हमारी कलम से मिल सकेगी, सो उतने से ही इन दिनों सन्तोष करना पड़ेगा ।

६० वर्ष के जीवन में से १५ वर्ष का आरम्भिक बाल जीवन कुछ विशेष महत्त्व का नहीं है । शेष ५ वर्ष हमने आध्यात्मिकता के प्रसंगों को अपने जीवन-क्रम में सम्मिलित करके बिताये हैं, पूजा-उपासना का उस प्रयोग में बहुत छोटा अंश रहा है । २४ वर्ष तक ६ घण्टे रोज की गायत्री उपासना को उतना महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए, जितना कि मानसिक परिष्कार और भावनात्मक उत्कृष्टता के अभिवर्धन के प्रयत्नों को । यह माना जाना चाहिए कि यदि विचारणा और कार्यपद्धति को परिष्कृत न किया गया होता, तो उपासना के कर्मकाण्ड उसी तरह निरर्थक चले जाते, जिस तरह कि अनेक पूजा-पत्री तक सीमित मन्त्र-तन्त्रों का ताना-बाना बुनते रहने वालों को नितान्त खाली रहना पड़ता है । हमारी जीवन साधना को यदि सफल माना जाए और उसमें दीखने वाली अलौकिकता को खोजा जाए तो उसका प्रधान कारण हमारी अन्तरंग और बहिरंग स्थिति के परिष्कार को ही माना जाए । पूजा उपासना को गौण समझा जाए। आत्मकथा के एक अंश को लिखने का दुस्साहस करते हुए हम एक ही तथ्य का प्रतिपादन करेंगे कि हमारा सारा मनोयोग और पुरुषार्थ आत्म-शोधन में लगा है । उपासना जो बन पड़ी है, उसे भी हमने भाव परिष्कार के प्रयत्नों के साथ पूरी तरह जोड़ रखा है । अब

आत्मोद्घाटन के साधनात्मक प्रकरण पर प्रकाश डालने वाली कुछ चर्चाएँ पाठकों की जानकारी के लिए करते हैं—

साधनात्मक जीवन की तीन सीढ़ियाँ हैं। तीनों पर चढ़ते हुए एक लम्बी मंजिल पार कर ली गयी। (१) मातृवत् परदारेषु (२) परद्रव्येषु लोष्ठवत् की मंजिल सरल थी, वह अपने आपसे सम्बन्धित थी। लड़ना अपने से था, सँभालना अपने को था, तो पूर्व जन्मों के संस्कार और समर्थ गुरु की सहायता से इतना सब आसानी से बन गया। मन उतना ही दुराग्रही दुष्ट न था, जो कुमार्ग पर घसीटने की हिम्मत करता। यदा-कदा उसने इधर-उधर भटकने की कल्पना भर की। जब प्रतिरोध का डण्डा जोर से सिर पर पड़ा, तो सहम गया और चुपचाप सही राह पर चलता रहा। मन से लड़ते, झगड़ते, पाप और पतन से भी बचा लिया गया। अब जबकि सभी खतरे टल गये तब सन्तोष की साँस ले सकते हैं। दास कबीर ने झीनी-झीनी बीनी चदरिया, जतन से ओढ़ी थी और बिना दाग-धब्बे ज्यों की त्यों वापिस कर दी। परमात्मा को अनेक धन्यवाद कि उसने उसी राह पर हमें भी चला दिया और उन्हीं पद चिन्हों को ढूँढ़ते तलाशते उन्हीं आधारों को मजबूती के साथ पकड़े हुए उस स्थान तक पहुँच गये, जहाँ लुढ़कने और गिरने का खतरा नहीं रहता।

अध्यात्म की कर्मकाण्डात्मक प्रक्रिया बहुत कठिन नहीं होती। संकल्प बल मजबूत हो, श्रद्धा और निष्ठा भी कम न पड़े, तो मानसिक उद्विग्नता नहीं होती और शान्तिपूर्वक-मन लगने लगता है और उपासना के विधिविधान गड़बड़ाये बिना अपने ढर्रे पर चलते रहते हैं। मामूली दुकानदार सारी जिन्दगी एक ही दुकान पर, एक ही ढर्रे से पूरी दिलचस्पी के साथ काट लेता है। न मन डूबता है न अरुचि होती है। पान-सिगरेट के दुकानदार १२-१४ घण्टे अपने धन्धे को उत्साह और शान्ति के साथ आजीवन करते रहते हैं, तो हमें ६-७ घण्टे प्रतिदिन की गायत्री साधना २४ वर्ष तक चलाने का संकल्प तोड़ने की क्या आवश्यकता पड़ती। मन उनका उचटता है जो उपासना को पान-बीड़ी की खेती-बाड़ी का,

मिठाई-हलवाई के धन्धे से भी कम आवश्यक या कम लाभदायक समझते हैं। बेकार के अरुचिकर कामों में मन नहीं लगता।

उपासना में ऊबने और अरुचि की अड़चन उन्हें आती है जिनकी आन्तरिक आकांक्षा भौतिक सुख-सुविधाओं को सर्वस्व मानने की है, जो पूजा पत्री को मनोकामनाएँ पूर्ण करने की बात सोचते रहते हैं उन्हें ही प्रारब्ध और पुरुषार्थ की न्यूनता के कारण अभीष्ट वरदान न मिलने पर खीझ होती है। आरम्भ में ही आकांक्षा के प्रतिकूल काम में उदासी रहती है। यह स्थिति दूसरों की होती है, सो वे मन न लगने की शिकायत करते रहते हैं। अपना स्तर दूसरा था। शरीर बहाना-भर माना, वस्तुओं को निर्वाह की भट्टी जलाने के लिए ईंधन भर समझा। महत्वाकांक्षाएँ बड़ा आदमी बनने और झूठी वाह वाही लूटने की कभी भी नहीं उठी। जो यही सोचता रहा हम आत्मा हैं, तो क्यों न आत्मोत्कर्ष के लिए, आत्म-शान्ति के लिए, आत्म कल्याण के लिए और आत्म विस्तार के लिए जिएँ। शरीर और अपने को जब दो भागों में बाँट दिया। शरीर के स्वार्थ और अपने स्वार्थ अलग बाँट दिए तो वह अज्ञात की एक भारी दीवार अपने आप गिर पड़ी और अन्धेरे से उजाला हो गया।

जो लोग अपने को शरीर मान बैठते हैं, इन्द्रिय तृप्ति तक अपना आनन्द सीमित कर लेते, वासना और तृष्णा की पूर्ति ही जिनका जीवनोद्देश्य बन जाता है, उनके लिए पैसा, अमीरी, बड़प्पन, प्रशंसा पदवी पाना ही सब कुछ हो सकता है। वे आत्म-कल्याण की बात भुला सकते हैं और लोभ मोह की सुनहरी हथकड़ी-बेड़ी चावपूर्वक पहने रह सकते हैं। उनके लिए श्रेय पथ पर चलने की सुविधाजनक स्थिति न मिलने का बहाना सही हो सकता है। अन्तःकरण की आकांक्षाएँ ही साधन जुटाती हैं जब भौतिक सुख सम्पत्ति ही लक्ष्य बन गया, तो चेतना का सारा प्रयास उन्हें ही जुटाने में लगेगा। उपासना तो फिर एक हल्की-सी खिलवाड़ रह जाती है। कर ली तो ठीक, न कर ली तो ठीक। कौतूहल की दृष्टि से लोग देखा करते हैं कि लोग इनका थोड़ा तमाशा देख लें, कुछ मिलता

है या नहीं- थोड़ी देर तक अनमनी तबियत से कुछ चमत्कार मिलने की दृष्टि से उल्टी-पुल्टी पूजा-पत्री चलाई तो उन पर विश्वास नहीं जमा, सो छूट गयी, छूटनी भी थी । श्रद्धा और विश्वास के अभाव में जीवनोद्देश्य को प्राप्त करने की तीव्र लगन के अभाव में कोई आत्मिक प्रगति नहीं कर सका । यह सब तथ्य हमें अनायास ही विदित थे । सो शरीर यात्रा और परिवार व्यवस्था जमाये भर रहने के लिए जितना अनिवार्य रूप से आवश्यक था, उतना ही ध्यान उस ओर दिया । उन प्रयत्नों को मशीन का किराया भर चुकाने की दृष्टि से किया । अन्तःकरण लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तत्पर रहा, सो भौतिक प्रलोभनों और आकर्षणों में भटकने की कभी जरूरत नहीं हुई ।

जब अपना स्वरूप आत्मा की स्थिति में अनुभव होने लगा और अन्तःकरण परमेश्वर का परम पवित्र निवास दीखने लगा तो चित्त अन्तर्मुखी हो गया । सोचने का तरीका इतना भर सीमित रह गया कि परमात्मा के राजकुमार आत्मा को क्या करना, किस दिशा में चलना चाहिए ? प्रश्न सरल थे और उत्तर भी सरल ।केवल, उत्कृष्ट जीवन जीना चाहिए और केवल आदर्श वादी कार्य पद्धति अपनानी चाहिए । जो इस मार्ग पर चले नहीं, उन्हें बहुत डर लगता है कि यह रीति-नीति अपनाई तो बहुत संकट आवेगा और गरीबी, तंगी, भर्त्सना और कठिनाई सहनी पड़ेगी । मित्र, शत्रु हो जायेंगे और घर वाले विरोध करेंगे, अपने को भी आरम्भ में ऐसा ही लगा और अनुभव हुआ ।आरम्भिक दिनों में हमें उपहास और भर्त्सना सहनी पड़ी । घर परिवार के लोग ही सबसे अधिक आड़े आये । उन्हें लगा कि इसकी सहायता से जो भौतिक लाभ हमें मिलते हैं या मिलने वाले हैं उनमें कमी आ जायेगी, सो वे अपनी हानि जिसमें समझते, उसे हमारी मूर्खता बताते थे; पर यह बात देर तक नहीं चली । अपनी आस्था ऊँची और सुदृढ़ हो, तो झूठ, विरोध देर तक नहीं टिकता, कुमार्ग पर चलने के कारण जो विरोध तिरस्कार उत्पन्न होता है वही स्थिर रहता है । नेकी अपने आप में एक विभूति है जो स्वयं का ही

नहीं, सभी का हित साधती है, इसीलिए स्थिर रहती भी है। विरोधी और निन्दक कुछ ही दिनों में अपनी भूल समझ जाते हैं और रोड़ा अटकाने के बजाय सहयोग देने लगते हैं।आस्था जितनी ऊँची और जितनी मजबूत होगी प्रतिकूलता उतनी ही जल्दी अनुकूलता में बदल जाती है। परिवार का विरोध देर तक नहीं सहना पड़ा, उनकी शंका-कुशंका वस्तु स्थिति समझ लेने पर दूर हो गयी। आत्मिक जीवन में वस्तुत: घाटे की कोई बात नहीं है। बाहरी दृष्टि से गरीब दीखने वाला व्यक्ति आत्मिक शान्ति और सन्तोष के कारण बहुत प्रसन्न रहता है। यह प्रसन्नता और सन्तुष्टि हर किसी को प्रभावित करती है और विरोधियों को सहयोगी बनाने में बड़ी सहायक सिद्ध होती है। अपनी कठिनाई ऐसे ही हल हुई।

बड़प्पन का लोभ-मोह, वाहवाही की-तृष्णा की हथकड़ी-बेड़ी और तौक़ कटी तो लगा कि भव-बन्धनों से मुक्ति मिल गयी। इन्हीं तीन जंजीरों में जकड़ा हुआ प्राणी इस भवसागर में औंधे मुँह घसीटा जाता रहता है और अतृप्ति, उद्विग्नता की व्यथा वेदना से कराहता रहता है। इन तीनों की तुच्छता समझ ली जाय और लिप्सा को श्रद्धा में बदल दिया जाय, तो समझना चाहिए कि माया के बन्धन टूट गए और जीवित रहते ही मुक्ति पाने का प्रयोजन पूरा हो गया "नजरें, तेरी बदलीं कि नजारा बदल गया" वाली उक्ति के अनुसार अपनी भावनाएँ, आत्मज्ञान होते ही समाप्त हो गईं और जीवन लक्ष्य पूरा करने की आवश्यकता अँगुली पकड़कर मार्गदर्शन करने लगी, फिर अभाव रहा न असन्तोष। शरीर को जीवित भर रखने और परिवार की, देह की परिस्थिति जितने साधनों से सन्तुष्ट रहने की शिक्षा देकर लोभ-लिप्सा की जड़ काट दी। मन उधर से भटकना बन्द कर दे, तो कितनी अपार शक्ति मिलती है और जी कितना प्रफुल्लित रहता है। यह तथ्य कोई अनुभव करके देख सकता है; पर लोग तो लोग ठहरे, तेल से आग बुझाना चाहते हैं। तृष्णा को दौलत से और वासना को भोग साधना से तृप्त करना चाहते हैं। इन्हें कौन समझाये कि यह प्रयास केवल दावानल ही भड़का सकते हैं। इस

पथ पर चलने वाला मृग-तृष्णा में ही भटक सकता है। मरघट के प्रेत-पिशाच की तरह उद्विग्न ही रह सकता है- कुकर्म ही कर सकता है। इसे कौन कैसे समझाये ? समझने और समझाने वाले दोनों विडम्बना मात्र करते हैं। सत्संग और प्रवचन बहुत सुने; पर ऐसे ज्ञानी न मिले जो अध्यात्म के अन्तरंग में उतर कर अनुकरण की प्रेरणा देते। प्रवचन देने वाले के जीवनक्रम को उघाड़ा, तो वहाँ सुनने वाले से भी अधिक गन्दगी पाई। सो जी खट्टा हो गया।

बड़े-बड़े सत्संग, सम्मेलन होते तो, पर अपना जी किसी को देखने-सुनने के लिए न करता। प्रकाश मिला तो अपने ही भीतर। आत्मा ने ही हिम्मत की और चारों ओर जकड़े पड़े जंजाल को काटने की बहादुरी दिखाई, तो ही काम चला। दूसरों के सहारे बैठे रहते, तो ज्ञानी बनने वाले शायद अपनी ही तरह हमें भी अज्ञानी बना देते। लगता है यदि किसी को प्रकाश मिलना होगा, तो भीतर से ही मिलेगा। कम से कम अपने सम्बन्ध में तो यही तथ्य सिद्ध हुआ है। आत्मिक प्रगति में वाह्य अवरोधों के जो पहाड़ खड़े थे- उन्हें लक्ष्य के प्रति अटूट श्रद्धा रखे बिना, श्रेय पथ पर चलने का दुस्साहस संग्रह किये बिना निरस्त नहीं किया जा सकता था, सो अपनी हिम्मत ही काम आई। अब अड़ गये तो सहायकों की भी कमी नहीं। गुरुदेव से लेकर भगवान् तक सभी अपनी मंजिल को सरल बनाने में सहायता देने के लिए निरन्तर आते रहे और प्रगति पथ पर धीरे-धीरे किन्तु सुदृढ़ कदम आगे ही बढ़ते चले गये। अब तक की मंजिल इसी क्रम से पूरी हुई है।

लोग कहते रहते हैं कि आध्यात्मिक जीवन कठिन है; पर अपनी अनुभूति इससे सर्वथा विपरीत है। वासनाओं और तृष्णाओं से घिरा और भरा जीवन ही वस्तुतः कठिन एवं जटिल है। इस स्तर का क्रिया-कलाप अपनाने वाला व्यक्ति जितना श्रम करता है, जितना चिन्तित रहता है, जितनी व्यर्थ वेदना सहता है, जितना उलझा रहता है उसे देखते हुए आध्यात्मिक जीवन की असुविधा को तुलनात्मक दृष्टि से नगण्य ही
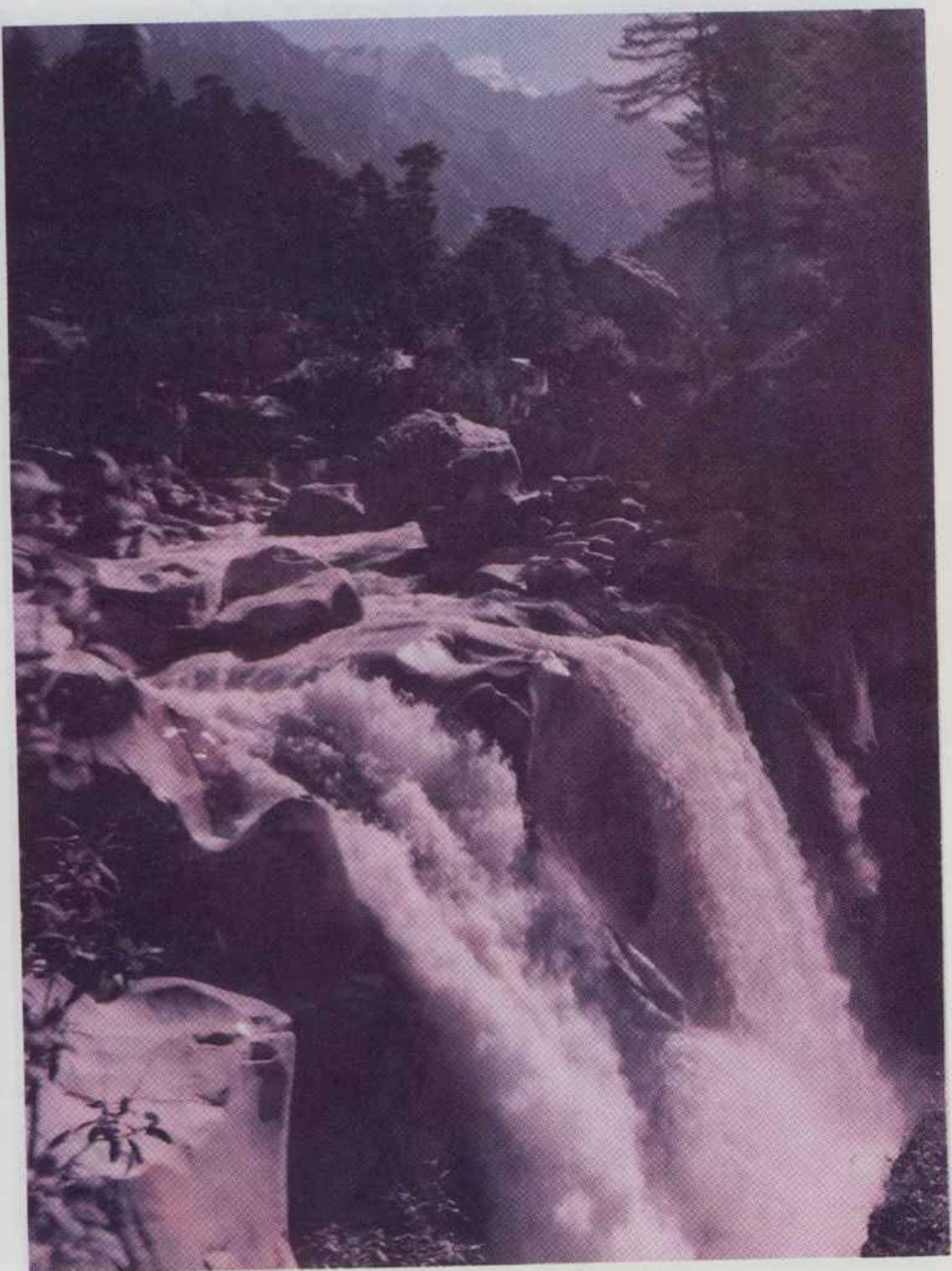
गौरीकुण्ड के मध्य में भागीरथ शिला

देवपथ की ओर बढ़ती बैतरणी
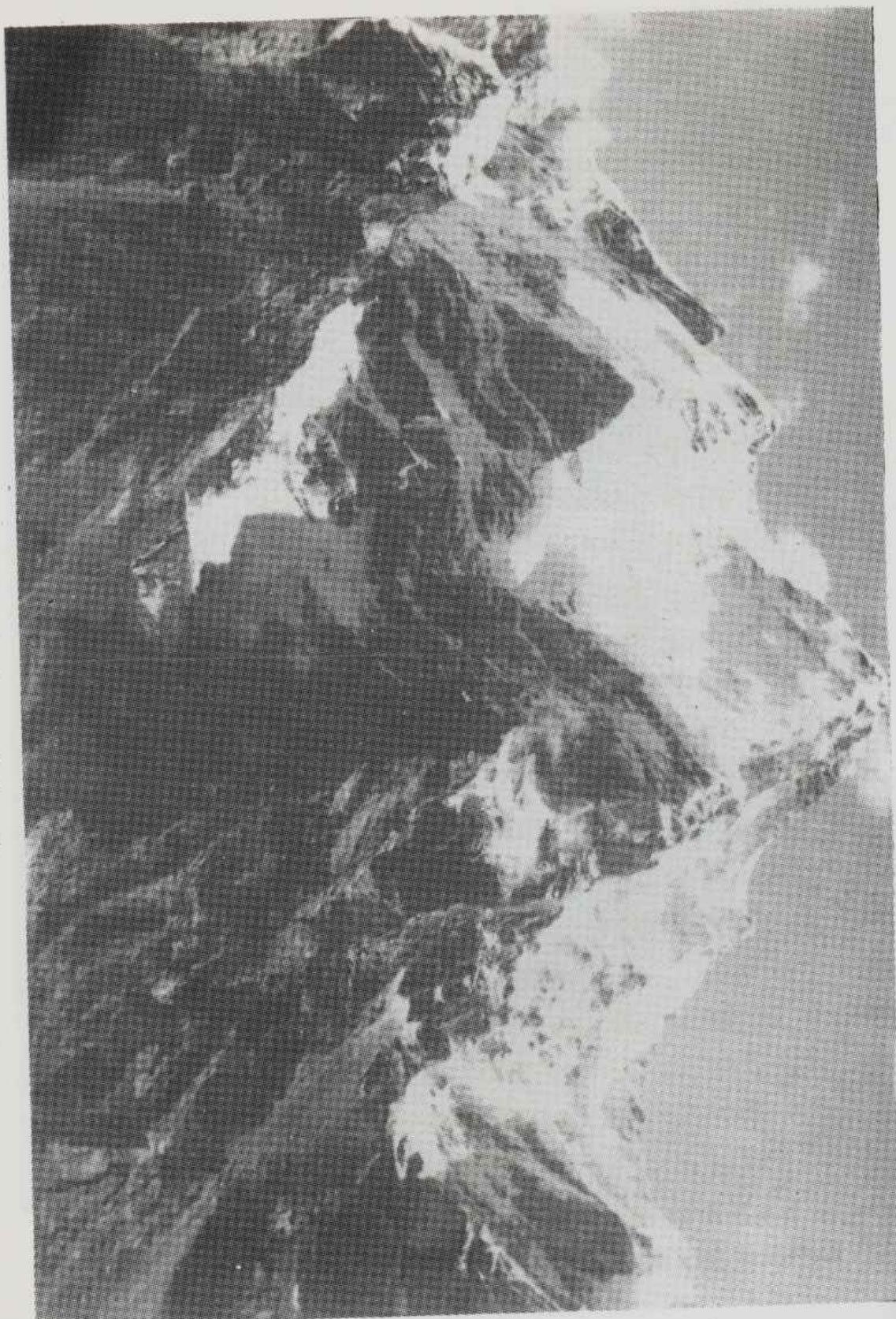
कहा जा सकता है । इतना श्रम, इतना चिन्तन, इतना उद्वेग फिर भी क्षणभर भी चैन नहीं । कामना पूर्ति के लिए प्रथम प्रयास कर पूर्ति से पहले ही अभिलाषाओं का और सौ गुना हो जाना इतना बड़ा जंजाल है कि बड़ी-से बड़ी सफलताएँ पाने के बाद भी व्यक्ति अतृप्त और असंतुष्ट ही बना रहता है । छोटी सफलता पाने के लिए कितने थकान वाला श्रम करना पड़ा था, यह जानते हुए भी उससे बड़ी सफलता पाने के लिए चौगुने, दस गुने उत्तरदायित्व और ओढ़ लेता है । गति जितनी तीव्र होती जाती है उतनी ही समस्याएँ उठती और उलझती हैं । उन्हें सुलझाने में देह, मन और आत्मा का कचूमर निकलता है । सामान्य शारीरिक और मानसिक श्रम सुरसा जैसी अभिलाषाओं को पूर्ण करने में समर्थ नहीं होता, अस्तु अनीति और अनाचार का मार्ग अपनाना पड़ता है । जघन्य पाप कर्म करते रहने पर अभिलाषाएँ पूर्ण नहीं होती हैं । निरन्तर की उद्विग्नता और भविष्य की अन्ध तमिस्रा दोनों को मिलाकर जितनी क्षति है उसे देखते हुए उपलब्धियों को अति तुच्छ ही कहा जा सकता है ।

आमतौर से लोग रोते-कलपते, रोग-शोक से सिसकते-बिलखते किसी प्रकार जिन्दगी की लाश ढोते हैं । वस्तुतः इन्हीं को तपस्वी कहा जाना चाहिए । कष्ट, त्याग, उद्वेग यदि आत्मिक प्रगति के पथ पर चलते हुए सहा जाता, तो मनुष्य योगी, सिद्ध पुरुष, महामानव देवता ही नहीं भगवान् भी बन सकता था । बेचारों ने पाया कुछ नहीं, खोया बहुत । वस्तुतः यही सच्चे त्यागी, परोपकारी, आत्मदानी और बलिदानी हैं, जिन्होंने परिश्रम से लेकर पाप की गठरी ढोने तक का दुस्साहस कर डाला और जो कमाया था उसे साले-बहनोई, बेटे-भतीजों के लिए छोड़कर स्वयं खाली हाथ चल दिए । दूसरे के सुख के लिए स्वयं कष्ट सहने वाले वस्तुतः यही महात्मा, ज्ञानी, परमार्थी अपने को दीखते हैं । वे स्वयं अपने को मायाग्रस्त और पथ भ्रष्ट कहते हैं तो कहते रहें ।

अपने इर्द-गिर्द घिरे असंख्यों मानव देहधारियों के अन्तरंग और बहिरंग जीवन की- उसकी प्रतिक्रिया परिणति को-जब हम देखते हैं, तो

लगता है इन सबसे अधिक सुख और सुविधाजनक जीवन हमीं ने जी लिया। हानि अधिक से अधिक इतनी हुई कि हमें कम सुविधा और कम सम्पन्नता का जीवन जीना पड़ा। सम्मान कम रहा और गरीब जैसे दीखे, सम्पदा न होने के कारण दुनियाँ वालों ने हमें छोटा समझा और अवहेलना की। बस इससे अधिक घाटा किसी आत्मवादी को हो भी नहीं सकता; पर इस अभाव से अपना कुछ भी हर्ज न हुआ, न कुछ काम रुका। दूसरे षड्स व्यंजन खाते रहे, हमने जौ-चना खाकर काम चलाया। दूसरे जीभ के अत्याचार से पीड़ित होकर रुग्णता का कष्ट सहते रहे, हमारा सस्ता आहार ठीक तरह पचता रहा और निरोगिता बनाये रहा। घाटे में हम क्या रहे? जीभ का क्षणिक जायका खोकर हमने कड़ी भूख में "किवाड़-पापड़" होने की उक्ति सार्थक होती देखी। जहाँ तक जायके का प्रश्न है उस दृष्टि से तुलना करने पर विलासियों की तुलना में हमारी जौ की रोटी अधिक मजेदार थी। धन के प्रयास में लगे लोग बढ़िया कपड़े, बढ़िया घर, बढ़िया साज-सज्जा अपनाकर अपना अहंकार पूरा करने और लोगों पर रौब गाँठने की बिडम्बना में लगे रहे। हम स्वल्प साधनों में उतना ठाठ तो जमा नहीं सके, पर सादगी ने जो आत्म-सन्तोष और आनन्द प्रदान किया उससे कम प्रसन्नता नहीं हुई, चाहे छिछोरे-बचकाने लोग मखौल उड़ाते रहे हों, पर वजनदार लोगों ने सादगी के पर्दे के पीछे झाँकती हुई महानता को सराहा और उसके आगे सिर झुकाया। नफे में कौन रहा, बिडम्बना बनाने वाले या हम ?

अपनी कसौटी पर अपने आपको कसने के बाद यही कहा जा सकता है कि कम परिश्रम, कम जोखिम और कम जिम्मेदारी लेकर हम शरीर, मन की दृष्टि से अधिक सुखी रहे और सम्मान भी कम नहीं पाया, पागल प्रशंसा न करें इसमें हमें कोई एतराज नहीं- पर अपने आप से हमें कोई शिकायत नहीं- आत्मा से लेकर परमात्मा तक और सज्जनों से लेकर दूरदर्शियों तक अपनी क्रिया पद्धति प्रशंसनीय मानी गयी। जोखिम भी कम और नफा भी ज्यादा। खर्चीली, तृष्णाग्रस्त, बनावटी भारभूत जिन्दगी

पाप और पतन के पहियों वाली गाड़ी पर ढोई जा सकती है । अपना सब कुछ हल्का रहा, बिस्तर बगल में दबाया और चल दिये । न थकान, न चिन्ता, हमारा व्यक्तिगत अनुभव यही है कि आदर्शवादी जीवन सरल है । उसमें प्रकाश, सन्तोष, उल्लास सब कुछ है । दुष्ट लोग आक्रमण करके कुछ हानि पहुँचा दें, तो यह जोखिम, पापी और घृणित जीवन में भी कम कहाँ है । सन्त और सेवाभावियों को जब इतना त्रास सहना पड़ता है, तो प्रतिस्पर्द्धा, ईर्ष्यो-द्वेष और प्रतिशोध के कारण भौतिक जीवन में और भी अधिक खतरा रहता है । कत्ल, खून, डकैती, आक्रमण, ठगी की जो रोमांचकारी घटनाएँ आये दिन सुनने को मिलती रहती हैं उनमें भौतिक जीवन जीने वाले ही अधिक मरते-खपते देखे जाते हैं । इतने व्यक्ति यदि स्वेच्छापूर्वक अपने प्राण और धन गँवाने को तत्पर हो जाते, तो उन्हें देवता माना जाता और इतिहास धन्य हो जाता ।

ईसा, सुकरात, गाँधी जैसे सन्त या उस वर्ग के लोग थोड़ी-सी संख्या में ही मरे हैं । उससे हजार गुने अधिक की तो पतनोन्मुखी क्षेत्र में ही हत्याएँ होती रहती हैं । दान से गरीब हुए भामाशाह तो अँगुलियों पर गिने जाने वाले ही मिलेंगे पर ठगी, विश्वासघात, व्यसन, व्यभिचार, आक्रमण, मुकदमा, बीमारी, बेवकूफी के शिकार होने वाले आये दिन अमीर के फकीर बनते लाखों व्यक्ति रोज ही देखे जाते हैं । आत्मिक क्षेत्र में घाटा, आक्रमण, मुकदमा, दुःख कम है, भौतिक में अधिक । इस तथ्य को यदि ठीक तरह से समझा गया होता, तो लोग आदर्शवादी जीवन से घबराने और भौतिक लिप्सा में औंधे मुँह गिरने की बेवकूफी न करते । हमारा व्यक्तिगत अनुभव यही है कि तृष्णा-वासना के प्रलोभन में व्यक्ति पाता कम, खोता अधिक है । हमें जो खोना पड़ा वह नगण्य है, जो पाया वह इतना अधिक है कि जी बार-बार यही सोचता है कि हर व्यक्ति को आध्यात्मिक जीवन जीने को उत्कृष्ट और आदर्शवादी परम्परा अपनाने के लिए कहा जाय, पर बात मुश्किल है । हमें अपने अनुभवों को साक्षी देकर उज्ज्वल जीवन जीने की गुहार मचाते

मुद्दत हो गयी, पर कितनों ने उसे सुना और सुनने वालों में से कितनों ने उसे अपनाया ?

मातृवत् परदारेषु और परद्रव्येषु लोष्ठवत् की दो सीढ़ियाँ चढ़ना भी अपने लिए कठिन पड़ता, यदि जीवन का स्वरूप, प्रयोजन और उपयोग ठीक तरह समझाने और जो श्रेयस्कर है उसी पर चलने की हिम्मत एवं बहादुरी न होती। जो शरीर को ही अपना स्वरूप मान बैठा और तृष्णा-वासना के लिए आतुर रहा उसे आत्मिक प्रगति से वंचित रहना पड़ा है। पूजा, उपासना के छिटपुट कर्मकाण्डों के बल पर प्रगति की नाव किनारे नहीं लगी है। हमें २४ वर्ष तक निरन्तर गायत्री पुरश्चरणों में निरत रहकर उपासना का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय पूरा करना पड़ा। उस पर कर्मकाण्ड की सफलता का पूरा लाभ तभी सम्भव हो सका जब अत्यधिक प्रगति की भावनात्मक प्रक्रिया को, जीवन साधना को उसके साथ जोड़े रखा। यदि दूसरों की तरह हम देवताओं को वश में करने या ठगने के लिए उनसे मनोकामनाएँ पूरी करने के लिए तन्त्र-मन्त्र का कर्मकाण्ड रचते रहते- जीवन क्रम निर्वाह की आवश्यकता न समझते, तो निःसंदेह अपने हाथ कुछ भी नहीं पड़ता। हम अगणित भजनानन्दी और तन्त्र-मन्त्र के कर्मकाण्डियों को जानते हैं, जो अपनी धुन में मुद्दतों से लगे हैं। पूजा-पाठ हमसे ज्यादा लम्बा और चौड़ा है, पर बारीकी से जब उन्हें परखा तो छूँछमात्र पाया, झूठी आत्म-प्रवंचना उनमें जरूर पायी, जिसके आधार पर यह सोचते थे कि इस जन्म में न सही- मरने के बाद उन्हें स्वर्ग सुख जरूर मिलेगा; पर हमारी परख और भविष्यवाणी यह है कि इनमें से एक को भी स्वर्ग आदि मिलने वाला नहीं, न उन्हें कोई सिद्ध चमत्कार हाथ लगने वाला है।

कर्मकाण्ड और पूजा-पाठ में प्राण तभी आते हैं जब साधक का जीवन क्रम उत्कृष्टता की दिशा में क्रमबद्ध रीति से अग्रसर हो रहा हो। उसका दृष्टिकोण सुधर रहा हो और क्रिया-कलाप में उस रीति-नीति का समावेश हो जो आत्मवादी के साथ आवश्यक रूप से जुड़े रहते हैं। धूर्त,

स्वार्थी, कंजूस और सदा बेटी, बेटों के लिए जीने वाले लोग यदि अपनी विचारणा और गतिविधियाँ परिष्कृत न करें, तो उन्हें तीर्थ व्रत उपवास, कथा, कीर्तन, स्नान, ध्यान आदि का कुछ लाभ मिल सकेगा, इसमें हमारी सहमति नहीं है । यह उपयोगी तो हैं, पर इसकी उपयोगिता इतनी है जितनी कि लेख लिखने के लिए कलम की । कलम के बिना लेख कैसे लिखा जा सकता ? पूजा उपासना के बिना आत्मिक प्रगति कैसे हो सकती है । यह जानने के साथ-साथ हमें यह भी जानना चाहिए कि स्वास्थ्य, अध्ययन, चिन्तन, मनन की, बौद्धिक विकास की प्रक्रिया सम्पन्न किए बिना केवल कलम कागज के आधार पर लेख नहीं लिखा जा सकता ? न कविताएँ बनाई जा सकती हैं ? आन्तरिक उत्कृष्टता बौद्धिक विकास की तरह है और पूजा अच्छी कलम की तरह । दोनों का समन्वय होने से ही बात बनती है । एक को हटा दिया जाय तो बात अधूरी रह जाती है । हमने यह ध्यान रखा कि साधना की गाड़ी एक पहिए पर न चल सकेगी, इसलिए दोनों पहियों की व्यवस्था ठीक तरह जुटाई जाय । हमने उपासना कैसे की, इसमें कोई रहस्य नहीं है । गायत्री महाविज्ञान में जैसा लिखा है उसी क्रम से हमारा गायत्री मन्त्र का सामान्य उपासना क्रम चलता रहा है । हाँ जितनी देर तक भजन करने बैठे हैं उतनी देर तक यह भावना अवश्य करते रहे हैं कि ब्रह्म की परम तेजोमयी सत्ता माता गायत्री का दिव्य प्रकाश हमारे रोम-रोम में ओत-प्रोत हो रहा है और प्रचण्ड अग्नि में पड़कर लाल हुए लोहे की तरह हमारा भौंड़ा अस्तित्व उसी स्तर का उत्कृष्ट बन गया है जिस स्तर का कि हमारा इष्टदेव है । शरीर के अणु-परमाणुओं में गायत्री माता का वर्चस्व समा जाने से काया का हर अवयव ज्योतिर्मय हो उठा और अग्नि से इन्द्रियों की लिप्सा, जलकर भस्म हो गयी, आलस्य आदि दुर्गुण नष्ट हो गये । रोग-विकारों को उस अग्नि ने अपने में जला दिया ।

शरीर तो अपना है, पर उसके भीतर प्रचंड ब्रह्मवर्चस लहरा रहा है, व वाणी में केवल सरस्वती ही शेष है । असत्य, छल और स्वाद के

वह असुर उस दिव्य मन्दिर को छोड़कर पलायन कर गये । नेत्रों में गुण ग्राहकता और भगवान् का सौन्दर्य हर जड़-चेतन में देखने की क्षमता भर शेष है । छिद्रान्वेषण, कामुकता जैसे दोष आँखों में नहीं रहे । कान केवल, जो मंगलमय है उसे सुनते हैं । बाकी कोलाहल मात्र है जो श्रवणेन्द्रिय के पर्दे से टकराकर वापस लौट जाता है ।

गायत्री माता का परम तेजस्वी प्रकाश सूक्ष्म शरीर में-अन्तःकरण चतुष्टय में- मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार में प्रवेश करते और प्रकाशवान् होते देखा तथा अनुभव किया कि ब्रह्मवर्चस अपने मन को उस भूमिका में घसीटे लिये जा रहा है जिसमें पाशविक इच्छा आकांक्षाएँ विरत हो जाती हैं और दिव्यता परिप्लावित कर सकने वाली आकांक्षाएँ सजग हो उठती हैं । बुद्धि निर्णय करती है कि क्षणिक आवेशों के लिए, तुच्छ प्रलोभनों के लिए मानव जीवन जैसी उपलब्धि विनष्ट नहीं की जा सकती, इसका एक-एक पल आदर्शों की प्रतिष्ठापना के लिए खर्च किया जाना चाहिए । चित्त में उच्च निष्ठाएँ जमानी और सत्यं- शिवं-सुन्दरम् की ओर बढ़ चलने की उमंगें उत्पन्न करनी हैं । सविता देवता का तेजस् अपनी अन्तः भूमिका में प्रवेश करके "अहं" को परिष्कृत करता है । मरणधर्मा जीवधारियों की स्थिति से योजनों ऊपर उड़ा ले जाकर ईश्वर के सर्व समर्थ, परम पवित्र और सच्चिदानन्द स्वरूप में अवस्थित कर देता है ।

गायत्री पुरश्चरणों के समय केवल जप ही नहीं किया जाता रहा, साथ ही भाव तरंगों से मन भी हिलोरें लेता रहा । कारण शरीर भावभूमि का अन्तस्थल के आत्मबोध, आत्म दर्शन, आत्मानुभूति और आत्म विस्तार की अनुभूति अन्तर्ज्योति के रूप में अनुभव किया जाता रहा । लगा अपनी आत्मा परम तेजस्वी सविता देवता के प्रकाश में पतंगों के दीपक पर समर्पित होने की तरह विलीन हो गयी । अपना अस्तित्व समाप्त, उसकी स्थान पूर्ति परम तेजस् द्वारा । मैं समाप्त- सत् का आधिपत्य । आत्मा और परमात्मा के अद्वैत मिलने की अनुभूति में ऐसे ब्रह्मानन्द की सरसता की क्षण-क्षण अनुभूति होती रही जिस पर संसार

भर का समवेत विषयानन्द निछावर किया जा सकता है । जप के साथ स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों में दिव्य प्रकाश की प्रतिष्ठापना, का आरम्भ प्रयत्नपूर्वक धारण के रूप में की गई थी । पीछे वह स्वाभाविक प्रकृति बनी और अन्ततः प्रत्यक्ष अनुभूति बन गई । जितनी देर उपासना में बैठा गया-अपनी सत्ता के भीतर और बाहर परम तेजस्वी सविता की दिव्य ज्योति का सागर लहलहाता रहा और यही प्रतीत होता रहा कि हमारा अस्तित्व इस दिव्य ज्योति से ओतप्रोत हो रहा है । प्रकाश के अतिरिक्त अन्तरंग और बहिरंग में कुछ है ही नहीं । प्राण के हर स्फुरण में ज्योति स्फुलिंगों के अतिरिक्त कुछ बचा ही नहीं । इस अनुभूति ने कम से कम पूजा के समय की अनुभूति को दिव्य दर्शन अनुभव से ओतप्रोत बनाये ही रखा । साधना का प्रायः सारा समय इसी अनुभूति के साथ बीता ।

पूजा के ६ घण्टे, शेष और १८ घण्टों की भरपूर प्रेरणा देते । काम का जो समय रहा उसमें यह लगता रहा । कि इष्ट देवता का तेजस् ही अपना मार्गदर्शक है ।उनके संकेतों पर ही प्रत्येक क्रिया-कलाप बना और चल रहा है । लालसा और लिप्सा से, तृष्णा और वासना से प्रेरित अपना कोई कार्य हो रहा हो ऐसा कभी लगा ही नहीं ।छोटे बालक को माँ जिस प्रकार उँगली पकड़कर चलाती है, उसी प्रकार दिव्य सत्ता ने मस्तिष्क को पकड़कर ऊँचा सोचने और शरीर को पकड़कर ऊँचा करने के लिए विवश कर दिया । उपासना के अतिरिक्त जाग्रत अवस्था के जितने घण्टे रहे उनमें शारीरिक नित्य कर्मों से लेकरआजीविका उपार्जन, स्वाध्याय-चिन्तन परिवार व्यवस्था आदि की समस्त क्रियाएँ इस अनुभूति के साथ चलती रहीं मानो परमेश्वर इन सबका नियोजन और संचालन कर रहा हो ।रात को सोने के ६ घण्टे ऐसी गहरी नींद में बीतते रहे मानो समाधि लग गई हो और माता के आँचल में अपने को सौंपकर परम शान्ति और सन्तुष्टि की भूमिका आत्म सत्ता से तादात्म्य प्राप्त कर रही हो ।सोकर जब उठे तो लगा- नया जीवन, नया उल्लास, नया प्रकाश अग्रिम मार्गदर्शन के लिए पहले से ही पथ प्रदर्शन के लिएसामने खड़ा है ।

२४ वर्ष के २४ महापुरश्चरण काल में कोई सामाजिक पारिवारिक जिम्मेदारियाँ कन्धे पर नहीं थीं, सो अधिक तत्परता और तन्मयता के साथ यह जप-ध्यान-साधना का क्रम ठीक तरह चलता रहा। मातृवत् परदारेषु और पर द्रव्येषु लोष्ठवत् की अटूट निष्ठा ने काया को पाप कर्मों से बचाये रखा, अन्न की सात्विकता ने मन को अध:पतन के गर्त में गिरने से भली प्रकार रोक रखने में सफलता पाई। जौ की रोटी और गाय की छाछ का आहार रुचा भी और पचा भी। जैसा अन्न वैसा मन की सचाई हमने अपने जीवन काल में पग-पग पर अनुभव की, यदि शरीर और मन का संयम कठोरता पूर्वक न बरता गया होता तो शायद जो थोड़ी-सी प्रगति हो सकी, वह हो सकी होती या नहीं।

हमारे दृश्य- जीवन की अदृश्य अनुभूतियाँ

अपनी अध्यात्म साधना की दो मंजिलें २४ वर्ष में पूरी हुई। मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् के आदर्शों में व्यतिक्रम प्राय: युवावस्था में ही होता है। काम और लोभ की प्रबलता के वही दिन हैं सो पन्द्रह वर्ष की आयु से लेकर २४ वर्षों में ४० तक पहुँचते-पहुँचते वह उफान ढल गया। कामनाएँ, वासनाएँ, तृष्णाएँ, महत्वाकांक्षाएँ प्राय: इसी आयु में आकाश-पाताल के कुलावे मिलाती हैं। यह अवधि स्वाध्याय, मनन, चिन्तन से लेकर आत्मसंयम और जप-ध्यान की साधना में लग गई, इसी आयु में बहुत करके मनोविकार प्रबल रहते हैं सो आमतौर से परमार्थ प्रयोजनों के लिए ढलती आयु के व्यक्तियों को ही प्रयुक्त किया जाता है।

उठती उम्र के लोग अर्थ व्यवस्था से लेकर सैन्य संचालन तक अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर उठाते हैं और उन्हें उठाने चाहिए। महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इन क्षेत्रों में बहुत अवसर रहता है। सेवा कार्यों में योगदान भी नवयुवक बहुत दे सकते हैं, पर लोकमंगल के लिए नेतृत्व करने की वह अवधि नहीं है। शंकराचार्य, दयानन्द, विवेकानन्द, रामदास, मीरा, निवेदिता जैसे थोड़े ही अपवाद ऐसे हैं जिन्होंने उठती उम्र में ही लोकमंगल के नेतृत्व का भार कन्धों पर सफलतापूर्वक वहन किया हो। आमतौर से कच्ची उम्र गड़बड़ी ही फैलाती है। यश-पद की इच्छा का प्रलोभन, वासनात्मक आकर्षण के बने रहते जो सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं वे उल्टी विकृति पैदा करते हैं। अच्छी संस्थाओं का भी सर्वनाश इसी स्तर के लोगों द्वारा होता रहता है। यों बुराई किसी आयु विशेष से बँधी नहीं रहती, पर प्रकृति की परम्परा कुछ ऐसी ही चली आती है जिसके कारण युवावस्था महत्वाकांक्षाओं की अवधि मानी गई है। ढलती उम्र के साथ-साथ स्वभावत: आदमी कुछ ढीला पड़ जाता है, तब उसकी भौतिक लालसाएँ भी ढीली पड़ जाती हैं। मरने की बात याद आने से लोक-परलोक, धर्म-कर्म भी रुचता

है, इसलिए तत्ववेत्ताओं ने वानप्रस्थ और संन्यास के लिए उपयुक्त समय आयु के उत्तरार्द्ध को ही माना है।

न जाने क्या रहस्य था कि हमें हमारे मार्गदर्शक ने उठती आयु में तपश्चर्या के कठोर प्रयोजन में नियोजित कर दिया और देखते-देखते उसी प्रयास में ४० साल की उम्र पूरी हुई। हो सकता है वर्चस्व और नेतृत्व के अहंकार का महत्वाकांक्षाओं और प्रलोभनों में, बह जाने का खतरा समझा गया हो। हो सकता है आन्तरिक अपरिपक्वता- आत्मिक बलिष्ठता पाये बिना कुछ बड़ा काम न बन पड़ने की आशंका की गई हो। हो सकता है महान् कार्यों के लिए अत्यन्त आवश्यक संकल्प बल, धैर्य, साहस और संतुलन न रखा गया हो। जो हो अपनी उठती आयु उस साधना क्रम में बीत गई जिसकी चर्चा कई बार कर चुके थे।

उस अवधि में सब कुछ सामान्य चला, असामान्य एक ही था हमारा गौ घृत से अहर्निश जलने वाला अखण्ड दीपक। पूजा की कोठरी में वह निरन्तर जलता रहता। इसका वैज्ञानिक या आध्यात्मिक रहस्य क्या था? कुछ ठीक से नहीं कह सकते। गुरु सो गुरु, आदेश सो आदेश, अनुशासन सो अनुशासन, समर्पण सो समर्पण। एक बार जब ठोक-बजा लिया और समझ लिया कि इसकी नाव पर बैठने पर डूबने का खतरा नहीं है तो फिर आँख मूँदकर बैठ ही गये। फौजी सैनिक को अनुशासन प्राणों से भी अधिक प्यारा होता है। अपनी अन्धश्रद्धा कहिए या अनुशासन प्रियता या जीवन की दिशा निर्धारित कर दी गई, कार्य पद्धति जो बता दी गई उसे सर्वस्व मानकर पूरी निष्ठा और तत्परता के साथ करते चले गये। अखण्ड दीपक की साधना-कक्ष में स्थापना भी इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत आती है। मार्गदर्शक पर विश्वास किया, उसे अपने आपको सौंप दिया, तो उखाड़-पछाड़, क्रिया-तर्क में सन्देह क्यों ? वह अपने से बन नहीं पड़ा। जो साधना हमें बताई गई उसमें अखण्ड दीपक का महत्त्व है, इतना बता देने पर उसकी स्थापना कर ली गई और पुरश्चरणों की पूरी अवधि तक उसे ठीक तरह जलाये रखा गया। पीछे तो यह प्राणप्रिय बन गया।

२४ वर्ष बीत जाने पर उसे बुझाया जा सकता था, पर यह कल्पना भी ऐसी लगती है कि हमारा प्राण ही बुझ जायेगा सो उसे आजीवन चालू रखा जायेगा। हम अज्ञातवास गये थे, अब फिर जा रहे हैं, तो उसे धर्मपत्नी सँजोये रखेगी। यदि एकाकी रहे होते, पत्नी न होती तो और कुछ साधना न बन सकती थी। अखण्ड दीपक सँजोये रखना कठिन था। कर्मचारी, शिष्य या दूसरे श्रद्धालु एवं आन्तरिक दृष्टि से दुर्बल लोग ऐसी दिव्य अग्नि को सँजोये नहीं रह सकते। अखण्ड दीपक स्थापित करने वालों में से अनेकों के जलते-बुझते रहते हैं, वे नाममात्र के ही अखण्ड हैं। अपनी ज्योति अखण्ड बनी रही- इसका कारण बाह्य सतर्कता नहीं, अन्तर्निष्ठा ही समझी जानी चाहिए, जिसे अक्षुण्य रखने में हमारी धर्मपत्नी ने असाधारण योगदान दिया।

हो सकता है अखण्ड दीपक अखण्ड यज्ञ का स्वरूप हो। धूपबत्तियों का जलाना, हवन सामग्री की, जप मन्त्रोच्चारण की और दीपक, घी होमे जाने की आवश्यकता पूरी करता हो और इस तरह अखण्ड हवन करने की कोई स्वसंचालित प्रक्रिया बन जाती हो। हो सकता है जल भरे कलश और स्थापना में कोई अग्नि- जल का संयोग रेल इंजन जैसा भाप शक्ति का सूक्ष्म प्रयोजन पूरा करता हो। हो सकता है अन्तर्ज्योति जगाने में इस बाह्य ज्योति से कुछ सहायता मिलती हो, जो हो अपने को इस अखण्ड ज्योति में भावनात्मक प्रकाश, अनुपम आनन्द, उल्लास से भरा-पूरा मिलता रहा। बाहर चौकी पर रखा हुआ दीपक कुछ दिन तो बाहर ही बाहर जलता दीखा, पीछे अनुभूति बदली और लगा कि हमारे अपने अन्तःकरण में यही प्रकाश ज्योति ज्यों की त्यों जलती है और जिस प्रकार पूजा की कोठरी प्रकाश से आलोकित होती है वैसे ही अपना समस्त अन्तरंग इससे ज्योतिर्मय हो रहा है। शरीर, मन और आत्मा में स्थूल, सूक्ष्म और कारण कलेवर में हम जिस ज्योतिर्मयता का ध्यान करते रहे हैं, सम्भवतः वह उस अखण्ड दीपक की ही प्रतिक्रिया रही होगी। उपासना की सारी अवधि में भावना क्षेत्र वैसे ही प्रकाश बिखेरता है।

अपना सब कुछ प्रकाशमय है, अन्धकार के आवरण हट गये, अन्ध तमिस्त्रा की मोहग्रस्तता जल गई, प्रकाश पूर्ण भावनाएँ- विचारणाएँ और गतिविधियाँ शरीर और मन पर आच्छादित हैं। सर्वत्र प्रकाश का समुद्र लहलहा रहा है और हम तालाब की मछली की तरह उस ज्योति सरोवर में क्रीड़ा- कल्लोल करते, विचरण करते हैं। इन अनुभूतियों ने आत्म-बल, दिव्य-दर्शन और उल्लास को विकासमान बनाने में इतनी सहायता पहुँचाई कि जिसका कुछ उल्लेख नहीं किया जा सकता। हो सकता है यह कल्पना ही हो, पर सोचते जरूर हैं कि यदि यह अखण्ड ज्योति जलाई न गई होती तो पूजा की कोठरी के धुँधलेपन की तरह शायद अन्तरंग भी धुंधला बना होता- अब तो वह दीपक दीपावली के दीप पर्व की तरह अपनी नस- नाड़ियों में जगमगाता दीखता है। अपनी भावभरी अनुभूतियों के प्रवाह में ही जब ३३ वर्ष पूर्व पत्रिका आरम्भ की तो संसार का सर्वोत्तम नाम जो हमें प्रिय लगता था- पसन्द आता था-"अखण्ड ज्योति" रख दिया। हो सकता है उसी भावावेश में प्रतिष्ठापित पत्रिका का छोटा सा विग्रह संसार में मंगलमय प्रगति की, प्रकाश की किरणें बिखेरने में समर्थ और सफल हो सका।

साधना के तीसरे चरण में प्रवेश करते हुए-"आत्मवत् सर्वभूतेषु" की किरणें फूट पड़ीं। मातृवत् पर दारेषु और परद्रव्येषु लोष्ठवत् की साधना अपने काय कलेवर तक ही सीमित थी। दो आँखों में पाप आया तो तीसरी विवेक की आँखें खोलकर उसे डराकर भगा दिया। शरीर पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये और वैसी परिस्थितियाँ बनने की जिनमें आशंका रहती है उनकी जड़ काट दी, तो दुष्ट व्यवहार असम्भव हो गया। मातृवत् परदारेषु की साधना बिना अड़चन के सध गई। मन ने सिर्फ आरम्भिक दिनों में ही हैरान किया। शरीर ने सदा हमारा साथ दिया। मन ने जब हार स्वीकार कर ली तो वह हताश होकर हरकतों से बाज आ गया। पीछे तो वह अपना पूरा मित्र और सहयोगी ही बन गया। स्वेच्छा से गरीबी वरण कर लेने- आवश्यकताएँ घटाकर अन्तिम बिन्दु तक ले जाने

और संग्रह की भावना छोड़ने से "परद्रव्य" का आकर्षण चला गया। पेट भरने के लिए, तन ढकने के लिए जब स्व-उपार्जन ही पर्याप्त था तो "परद्रव्य" के अपहरण की बात क्यों सोची जाय ? जो बचा, जो मिला-सो देते बाँटते ही रहे। बाँटने और देने का चस्का जिसे लग जाता है, जो उस अनुभूति का आनन्द लेने लगता है उसे संग्रह करते बन नहीं पड़ता। फिर किस प्रयोजन के लिए परद्रव्य का पाप कमाया जाय ? गरीबी का, सादगी का अपरिग्रही ब्राह्मण जीवन अपने भीतर एक असाधारण आनन्द, सन्तोष और उल्लास भरे बैठा है। इतनी अनुभूति यदि लोगों को हो सकी होती तो शायद ही किसी का मन परद्रव्य की पाप पोटली सिर पर लादने को करता। अपरिग्रही कहने भर से नहीं वरन् उसका अनुदान देने की प्रतिक्रिया अन्तःकरण पर कैसी अनोखी होती है, उसे कोई कहाँ जानता है ? पर अपने को तो यह दिव्य विभूतियों का भण्डार अनायास ही हाथ लग गया।

अगले कदम बढ़ने पर तीसरी मंजिल आती है-आत्मवत् सर्व भूतेषु। अपने समान सबको देखना।कहने- सुनने में यह शब्द मामूली से लगते हैं और सामान्यतः नागरिक कर्तव्य का पालन, शिष्टाचार, सद्व्यवहार की सीमा तक पहुँच कर बात पूरी हो गई दीखती है, पर वस्तुतः इस तत्त्व ज्ञान की सीमा अति विस्तृत है। उसकी परिधि वहाँ पहुँचती है जहाँ परमात्म सत्ता के साथ घुल जाने की स्थिति आ पहुँचती है। साधना के लिए दूसरे के अन्तरंग के साथ अपना अन्तरंग जोड़ना पड़ता है और उसकी सम्वेदनाओं को अपनी सम्वेदना समझना पड़ता है। वसुधैव कुटुम्बकम् की मान्यता का यही मूर्त रूप है कि हम हर किसी को अपना मानें, अपने को दूसरों में और दूसरों को अपने में पिरोया हुआ-घुला हुआ अनुभव करें। इस अनुभूति की प्रतिक्रिया यह होती है कि दूसरों के सुख में अपना सुख और दूसरों के दुःख में अपना दुःख अनुभव होमे लगता है। ऐसा मनुष्य अपने तक सीमित नहीं रह सकता, स्वार्थों की परिधि में आबद्ध रहना उसके लिए कठिन हो जाता है।

दूसरों का दु:ख मिटाने और सुख बढ़ाने के प्रयास उसे बिलकुल ऐसे लगते हैं, मानों यह सब अपने नितान्त व्यक्तिगत प्रयोजन के लिए किया जा रहा है।

संसार में अगणित व्यक्ति पुण्यात्मा और सुखी हैं, सन्मार्ग पर चलते और मानव जीवन को धन्य बनाते हुए अपना व पराया कल्याण करते हैं। यह देख-सोचकर जी को बड़ी सान्त्वना होती है और लगता है सचमुच यह दुनियाँ ईश्वर ने पवित्र उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाई। यहाँ पुण्य और ज्ञान मौजूद है। जिसका सहारा लेकर कोई भी आनन्द-उल्लास की, शांति और सन्तोष की दिव्य उपलब्धियाँ समुचित मात्रा में प्राप्त कर सकता है। पुण्यात्मा, परोपकारी और आत्मावलम्बी व्यक्तियों का अभाव यहाँ नहीं है। वे संख्या में कम भले ही हों अपना प्रकाश तो फैलाते ही हैं और उनका अस्तित्व यह तो सिद्ध करता ही है कि मनुष्य में देवत्व मौजूद है और उसे जो चाहे थोड़े से प्रयत्न से सजीव एवं सक्रिय कर सकता है। धरती वीर विहीन नहीं, यहाँ नर-नारायण का अस्तित्व विद्यमान है। परमात्मा कितना महान् उदार और दिव्य हो सकता है, इसका परिचय उसकी प्रतिकृति उन आत्माओं में देखी जा सकती है जिन्होंने श्रेय पथ का अवलम्बन किया और काँटों को तलवों से रौंदते हुए लक्ष्य की ओर शान्ति, श्रद्धा एवं हिम्मत के साथ बढ़ते चले गये। मनुष्य को गौरवान्वित करने में इन महामानवों का अस्तित्व ही इस जगती को इस योग्य बनाये हुए है कि भगवान् बार-बार नर तन धारण करके अवतार लेने के लिए ललचायें। आदर्शों की दुनियाँ में विचरण करने वाले और उत्कृष्टता की गतिविधियों को अवलम्बन बनाने वाले महामानव बहिरंग में अभावग्रस्त दीखते हुए भी अन्तरंग में कितने समृद्ध और सुखी रहते हैं- यह देखकर अपना चित्त भी पुलकित होने लगा। उसकी शान्ति अपने अन्त:करण को छूने लगी। महाभारत की वह कथा अक्सर याद आती रही, जिसमें पुण्यात्मा युधिष्ठिर के कुछ समय तक नरक में जाने पर वहाँ रहने वाले प्राणी आनन्द में विभोर हो गये थे।

लगता था- जिन पुण्यात्माओं की स्मृति मात्र से अपने को इतना सन्तोष और प्रकाश मिलता है तो वे जाने कितनी दिव्य अनुभूतियों का अनुभव करते होंगे।

इस कुरूप दुनियाँ में जो कुछ सौन्दर्य है वह इन पुण्यात्माओं का ही अनुदान है। असीम स्थिरता से निरन्तर प्रेत-पिशाचों जैसा हाहाकारी नृत्य करने वाले अणु-परमाणुओं से बनी-भरी इस दुनियाँ में जो स्थिरता और शक्ति है वह इन पुण्यात्माओं के द्वारा ही उत्पन्न की गई है। सर्वत्र भरे बिखरे जड़-पंचतत्त्वों में सरसता और शोभा दीखती है, उसके पीछे इन सत्पथ गामियों का प्रयत्न और पुरुषार्थ ही झाँक रहा है। प्रलोभनों और आकर्षणों के जंजाल के बन्धन काटकर जिसने सृष्टि को सुरक्षित और शोभायमान बनाने की ठानी, उनकी श्रद्धा ही धरती को धन्य बनाती रही। जिनके पुण्य प्रयास लोक-मंगल के लिए निरन्तर गतिशील रहे, इच्छा होती रही, इन नर नारायणों के दर्शन और स्मरण करके पुण्य फल पाया जाय। इच्छा होती रही, इनकी चरणरज मस्तक पर रखकर अपने को धन्य बनाया जाय। जिनने आत्मा को परमात्मा बना लिया- उन पुरुषोत्तमों में प्रत्यक्ष परमेश्वर की झाँकी करके लगता रहा, अभी भी ईश्वर साकार रूप में इस पृथ्वी पर निवास करते विचरते दीख पड़ते हैं। अपने चारों ओर इतना पुण्य परमार्थ विद्यमान दिखाई पड़ते रहना बहुत कुछ सन्तोष देता रहा और यहाँ अनन्त काल तक रहने के लिए मन करता रहा। इन पुण्यात्माओं का सान्निध्य प्राप्त करने में स्वर्ग, मुक्ति आदि का सबसे अधिक आनन्द पाया जा सकता है। इस सच्चाई को अनुभवों ने हस्तामलकवत् स्वयं सिद्ध करके सामने रख दिया और कठिनाईयों से भरे जीवन क्रम के बीच इसी विश्व सौन्दर्य का स्मरण कर उल्लसित रहा जा सका।

आत्मवत् सर्व भूतेषु की यह सुखोपलब्धि एकाकी न रही। उसका दूसरा पक्ष भी सामने अड़ा रहा। संसार में दुःख कम नहीं। कष्ट और क्लेश- शोक और सन्तोष-अभाव और दारिद्र्य से अगणित व्यक्ति-

नारकीय यातनाएँ भोग रहे हैं। समस्याएँ, चिन्ताएँ और उलझनें लोगों को खाये जा रही हैं। अन्याय और शोषण के कुचक्र में असंख्यों को बेतरह पिलना पड़ रहा है। दुर्बुद्धि ने सर्वत्र नारकीय वातावरण बना रखा है। अपराधों और पापों के दावानल में झुलसते, बिलखते, चिल्लाते, चीत्कार करते लोगों की यातनाएँ ऐसी हैं जिससे देखने वालों को रोमांच हो जाता है, फिर जिन्हें वह सब सहना पड़ता है उनका तो कहना ही क्या? सुख सुविधाओं की साधन सामग्री इस संसार में कम नहीं है, फिर भी दुःख और दैन्य के अतिरिक्त कहीं कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता। एक दूसरे को स्नेह सद्भाव का सहारा देकर व्यथा वेदनाओं से छुटकारा दिला सकते थे, प्रगति और समृद्धि की सम्भावना प्रस्तुत कर सकते थे, पर किया क्या जाये। जब मनोभूमि विकृत हो गयी, सब उल्टा सोचा और अनुचित किया जाने लगा, तो विष वृक्ष बोकर अमृत फल पाने की आशा कैसे सफल होती ?

सर्वत्र फैला दुःख दारिद्र्य, शोक, सन्ताप किस प्रकार समस्त मानव प्राणियों को कितना कष्टकर हो रहा है। पतन और पाप के गर्त में लोग किस शान और तेजी से गिरते-मरते चले जा रहे हैं। यह दयनीय दृश्य देखे, सुने तो अन्तरात्मा रोने लगी। मनुष्य अपने ईश्वरीय अंश-अस्तित्व को क्यों भूल गया? उसने अपना स्वरूप और स्तर इतना क्यों गिरा दिया ? यह प्रश्न निरन्तर मन में उठे पर; उत्तर कुछ न दिया। बुद्धिमानी, चतुरता, समय कुछ भी तो यहाँ कम नहीं है। लोग एक से एक बढ़कर कला-कौशल उपस्थित करते हैं और एक से एक बढ़कर चातुर्य चमत्कार का परिचय देते हैं; पर इतना क्यों नहीं समझ पाते कि दुष्टता का पल्ला पकड़कर वे जो पाने की आशा करते हैं वह मृग तृष्णा ही बनकर रह जायेगा? केवल पतन और सन्ताप ही हाथ लगेगा। मानवीय बुद्धिमत्ता में यदि एक कड़ी और जुड़ गई होती, समझदारी ने इतना निर्देश किया होता कि ईमान को साबित और सौजन्य को विकसित किए रहना मानवीय गौरव के अनुरूप और प्रगति के लिए आवश्यक है, तो इस संसार की
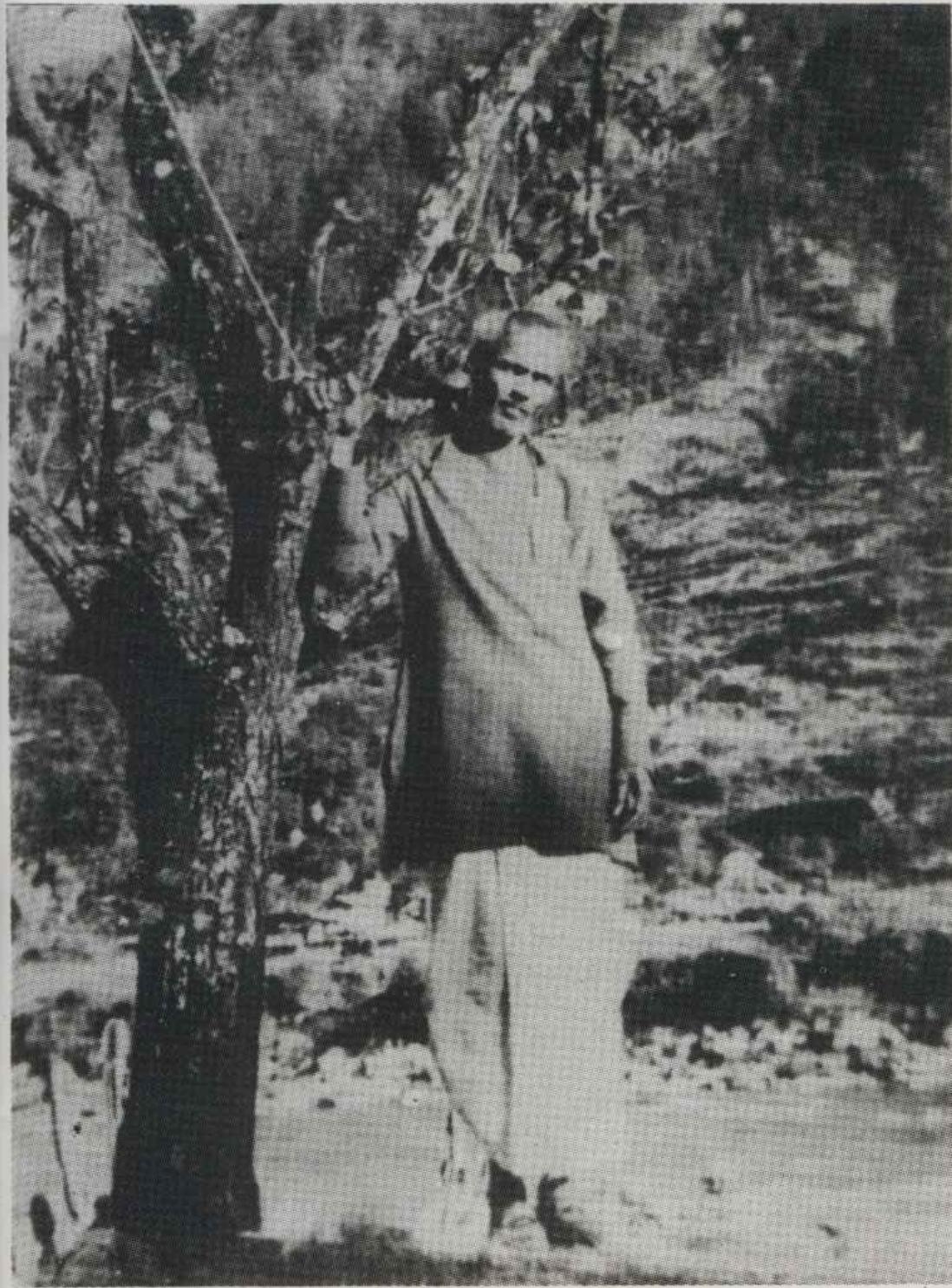
नन्दन वन में "लेखक"

तपोवन से दृष्टिगोचर हिमालय की स्वर्गारोहिणी श्रेणी का निकटतम दृश्य

स्थिति कुछ दूसरी ही होती। सभी सुख-शान्ति का जीवन जी रहे होते। किसी को किसी पर अविश्वास सन्देह न करना पड़ता और किसी द्वारा ठगा, सताया न जाता। तब यहाँ दुःख दारिद्र्य का अता-पता भी न मिलता। सर्वत्र सुख-शान्ति की सुरभि फैली अनुभव होती।

समझदार मनुष्य इतना नासमझ क्यों ? जो पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख होता है, इतनी मोटी बात को भी मानने के लिए तैयार नहीं होता। इतिहास और अनुभव का प्रत्येक अंकन अपने गर्भ में यह छिपाये बैठा है कि अनीति अपनाकर, स्वार्थ संकीर्णता में आबद्ध रहकर, हर किसी को पतन और सन्ताप ही हाथ लगा है। उदात्त और निर्मल हुए बिना किसी ने भी शान्ति नहीं पाई है। सम्मान और उत्कर्ष की सिद्धि किसी को भी आदर्शवादी रीति-नीति अपनाये बिना नहीं मिली है। कुटिलता सात पर्दे भेद कर अपनी पोल आप खोलती है। यह हम पग-पग पर देखते हैं, फिर भी न जाने क्यों यही सोचते रहते हैं कि हम संसार की आँखों में धूल झोंक कर अपनी धूर्तता को छिपाये रहेंगे। कोई हमारी दुरभि सन्धियों की गन्ध न पा सकेगाौर लुक-छिपकर आँख मिचौनी का ेल सदा खेला जाता रहेगा। यह सोचने वाले लोग क्यों भूल जाते हैं कि हजारों आँख से देखने, हजारों कानों से सुनने और हजारों पकड़ से पकड़ने वाला विश्वात्मा किसी की धूर्तता पर पर्दा नहीं पड़ा रहने देता, वस्तु स्थिति प्रकट होकर रहती है और दुष्टता छत पर चढ़कर अपनी कलई आप खोलती और अपनी दुरभि सन्धि आप बखानती है। सनातन सत्य और पुरातन तथ्य लोग समझ सके होते और अशुभ का अवलम्बन करने पर जो दुर्गति होती है उसे अनुभव कर सके होते, तो क्यों सन्मार्ग का राजपथ छोड़कर कंटकाकीर्ण कुमार्ग पर भटकते ? क्यों रोते-बिलखते इस सुर दुर्लभ मानव जीवन को सड़ी हुई लाश की तरह ढोते, घसीटते ?

दुर्बुद्धि का कैसा जाल-जंजाल बिखरा पड़ा है और उसमें कितने निरीह प्राणी करुण चीत्कार करते हुए फँसे हुए जकड़े पड़े हैं, यह दयनीय

दुर्दशा अपने लिए मर्मान्तक पीड़ा का कारण बन गयी । आत्मवत् सर्व भूतेषु की साधना ने विश्व मानव की पीड़ा बना दिया । लगने लगा-मानों अपने ही पाँवों को कोई ऐंठ-मरोड़ और गला रहा हो । "सब में अपनी आत्मा पिरोई हुई है और सब अपनी आत्मा में पिरोये हुए हैं ।" गीता का यह वाक्य जहाँ तक पढ़ने-सुनने से सम्बिन्धत रहे वहाँ तक कुछ हर्ज नहीं, पर जब वह अनुभूति की भूमिका में उतरे और अन्तःकरण में प्रवेश प्राप्त करे तो स्थिति दूसरी हो जाती है । अपने अंग अवयवों का कष्ट अपने को जैसा व्यथित बेचैन करता है, अपनी स्त्री, पुत्रों की पीड़ा जैसे चित्त को विचलित करती है, ठीक वैसे ही आत्म-विस्तार की दिशा में बढ़ चलने पर लगता है कि विश्वव्यापी दुःख अपना दुःख है और व्यथित पीड़ित की वेदना अपने को नोचती है ।

पीड़ित मानवता की- विश्वात्मा की, व्यक्ति और समाज की व्यथा वेदना अपने भीतर उठने और बेचैन करने लगी । आँख, डाढ़ और पेट के दर्द में बेचैन मनुष्य व्याकुल फिर रहा है कि किस प्रकार, किस उपाय से इस कष्ट से छुटकारा पाया जाये ? क्या किया जाये ? कहाँ जाया जाये ? की हल-चल मन में उठती है और जो सम्भव है उसे करने के लिए क्षण भर का विलम्ब न करने की आतुरता व्यग्र होती है । अपना मन भी ठीक ऐसा ही बना रहा । दुर्घटना में हाथ-पैर टूटे बच्चे को अस्पताल ले दौड़ने की आतुरता में माँ अपने बुखार-जुकाम को भूल जाती है और बच्चे को संकट से बचाने के लिए बेचैन हो उठती है । लगभग अपनी मनोदशा ऐसी ही तब से लेकर अद्यावधि- चली आती है । अपने सुख- साधन जुटाने की फुरसत कहाँ है ? विलासिता की सामग्री जहर-सी लगती है । विनोद और आराम के साधन जुटाने की बात कभी सामने आयी तो आत्म-ग्लानि ने उस क्षुद्रता को धिक्कारा, जो मरणासन्न रोगियों के प्राण बचा सकने में समर्थ पानी के एक गिलास को अपने पैर धोने की विडम्बना में बिखेरने के लिए ललचाती हैं । भूख से तड़पते प्राण त्यागने की स्थिति में पड़े हुए बालकों के मुख में जाने वाला

ग्रास छीनकर माता कैसे अपना भरा पेट और भरे ? दर्द से कराहते बालक से मुँह मोड़कर पिता ताश शतरंज का साज कैसे सजाए ? ऐसा कोई निष्ठुर ही कर सकता है । आत्मवत् सर्व भूतेषु की सम्वेदना जैसे ही प्रखर हुई, निष्ठुरता उसी क्षण गल-जलकर नष्ट हो गयी । जी में केवल करुणा ही शेष रही, वही अब तक जीवन के इस अन्तिम अध्याय तक यथावत् बनी हुई है । उसमें कमी रत्ती भर नहीं, वरन् दिन-दिन बढ़ोत्तरी ही होती गयी ।

सुना है कि आत्मज्ञानी सुखी रहते हैं और चैन की नींद सोते हैं । अपने लिए ऐसा आत्म-ज्ञान अभी तक दुर्लभ ही बना हुआ है । ऐसा आत्मज्ञान कभी मिल भी सकेगा या नहीं इसमें पूरा-पूरा सन्देह है । जब तक व्यथा वेदना का अस्तित्व इस जगती में बना रहे, जब तक प्राणियों को क्लेश और कष्ट की आग में जलना पड़े, तब तक हमें भी चैन से बैठने की इच्छा नहीं । जब भी प्रार्थना का समय आया, तब भगवान् से निवेदन यही किया- हमें चैन नहीं, वह करुणा चाहिए, जो पीड़ितों की व्यथा को अपनी व्यथा समझने की अनुभूति करा सके । हमें समृद्धि नहीं, वह शक्ति चाहिए, जो आँखों से आँसू पोंछ सकने की अपनी सार्थकता सिद्ध कर सके । बस इतना ही अनुदान वरदान भगवान् से माँगा और लगा कि द्रौपदी को वस्त्र देकर उसकी लज्जा बचाने वाले भगवान् हमें करुणा की अनन्त सम्वेदनाओं से ओत-प्रोत करते चले जाते हैं । अपने को क्या सुख साधन चाहिए इसका ध्यान ही कब आया ? केवल पीड़ित मानवता की व्यथा-वेदना ही रोम-रोम में समाई रही और यही सोचते रहे कि अपने विश्वव्यापी कलेवर परिवार को सुखी बनाने के लिए क्या किया जा सकता है । जो पाया उसका एक-एक कण हमने उसी प्रयोजन के लिए खर्च किया, जिससे शोक-सन्ताप की व्यापकता हटाने और सन्तोष की साँस ले सकने की स्थिति उत्पन्न करने में थोड़ा योगदान मिल सके ।

हमारी कितनी रातें सिसकते बीती हैं, कितनी बार हम बालकों की

तरह बिलख-बिलख कर, फूट-फूटकर रोये हैं। इसे कोई कहाँ जानता हैं? लोग हमें सन्त, सिद्ध, ज्ञानी मानते हैं कोई लेखक, विद्वान्, वक्ता, नेता समझते हैं, पर किसने हमारा अन्त:करण खोलकर पढ़ा समझा है। कोई उसे देख सका होता, तो मानवीय व्यथा वेदना की अनुभूतियों से करुण, कराह से हा-हाकार करती एक उद्विग्न आत्मा भर इस हड्डियों के ढाँचे में बैठी बिलखती ही दिखाई पड़ती। कहाँ तथाकथित आत्मज्ञान की निश्चिन्तता, निर्द्वन्दता और कहाँ हमारी करुण कराहों से भरी अन्तरात्मा दोनों में कोई तालमेल नहीं। सो जब सोचा यही सोचा, कि अभी वह ज्ञान जो निश्चिन्तता, एकाग्रता और समाधि सुख दिला सके। हमसे बहुत दूर है शायद वह कभी मिले भी नहीं, क्योंकि इस दर्द में जो भगवान् की झाँकी होती है। पीड़ितों के आँसू पोंछने में ही जब चैन अनुभव होता हो, तो उस निष्क्रिय मोक्ष और समाधि को प्राप्त करने के लिए कभी मन चलेगा ऐसा लगता नहीं। जिसकी इच्छा ही नहीं, वह मिला भी किसे है ?

पुण्य परोपकार की दृष्टि से कभी कुछ करते बन पड़ा हो सो याद नहीं आता। ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए कोई साधन बन पड़ा हो, ऐसा स्मरण नहीं। आत्मवत् सर्व भूतेषु के आत्म-विस्तार ने सर्वत्र अपना ही आपा बिखरा दिखलाया तो वह मात्र दृष्टि दर्शन न रह गया। दूसरों की व्यथा वेदनाएँ भी देखी गयीं और वे इतनी अधिक चुभन, कसक पैदा करती रहीं कि उन पर मरहम लगाने के अतिरिक्त और कुछ सूझा ही नहीं। पुण्य करता कौन ? परमार्थ के लिए फुरसत किसे थी ? ईश्वर को प्रसन्न करके स्वर्ग, मुक्ति का आनन्द लेना आया किसे ? विश्व-मानव की तड़पन अपनी तड़पन बन रही थी, सो पहले उसी से जूझना था। अन्य बातें तो ऐसी थीं जिनके लिए अवकाश और अवसर की प्रतीक्षा की जा सकती थी। हमारे जीवन के क्रिया-कलापों के पीछे उसके प्रयोजन को कभी कोई ढूँढ़ना चाहे, तो उसे इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि सन्त और सज्जनों की सद्भावना और सत्प्रवृत्तियों का

जितने क्षण स्मरण दर्शन होता रहा उतने समय चैन की साँस ली और जब जन-मानव की व्यथा वेदनाओं को सामने खड़ा पाया, तो अपनी निज की पीड़ा से अधिक कष्ट अनुभव हुआ। लोक मंगल, परमार्थ, सुधार, सेवा आदि के प्रयास कुछ यदि हमसे बन पड़े, तो उस सन्दर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि हमारी विवशता भर थी। दर्द और जलन ने क्षण भर चैन ससे न बैठने दिया, तो हम करते भी क्या ? जो दर्द से ऐंठा जा रहा है वह हाथ-पैर न पटके तो क्या करे ? हमारे अब तक के समस्त प्रयत्नों को लोग कुछ भी नाम दें, किसी रंग में रंगें, असलियत धारण यह है कि विश्व की आन्तरिक अनुभूति ने करुणा और सम्वेदना का रूप कर लिया और हम विश्ववेदना को आत्म वेदना मानकर उससे छुटकारा पाने के लिए बेचैन घायल की तरह प्रयत्न करते रहे। भावनाएँ इतनी उग्र रहीं कि अपना आपा तो भूल ही गया। त्याग, संयम, सादगी अपरिग्रह आदि की दृष्टि से कोई हमारे कार्यों पर नजर डाले तो उसे उतना भर समझ लेना चाहिए कि जिस ढाँचे में अपना अन्तःकरण ढल गया उसमें यह नितान्त स्वाभाविक था। अपनी समृद्धि, प्रगति, सुविंधा, वाहवाही हमें नापसन्द हो ऐसा कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, उन्हें हमने जानबूझ कर त्यागा, सो बात नहीं है। वस्तुतः विश्व-मानव की व्यथा अपनी वेदना बनकर इस बुरी तरह अन्तःकरण पर छाई रही कि अपने बारे में कुछ सोचने करने की फुरसत ही न मिली। वह प्रसंग सर्वथा विस्मृत ही बना रहा। इस विस्मृति को कोई तपस्या, संयम कहे, तो उसकी मर्जी पर जब स्वजनों को अपनी जीवन पुस्तिका के सभी उपयोगी पृष्ठ खोलकर पढ़ा रहे हैं, तो वस्तु स्थिति बता ही देनी उचित है।

हमारी उपासना और साधना साथ-साथ मिलकर चली हैं। परमात्मा को हमने इसलिए पुकारा कि वह प्रकाश बनकर आत्मा में प्रवेश करे और तुच्छता को महानता में बदल दे। उसकी शरण में इसलिए पहुँचे कि उस महत्ता में अपनी क्षुद्रता विलीन हो जाये, वरदान केवल यह माँगा कि हमें अपनी सहृदयता और विशालता मिले, जिसके अनुसार अपने

में सबको और सबमें अपने को अनुभव किया जा सकना सम्भव हो सके। १४ महा पुरश्चरणों का तप, ध्यान, संयम सभी इसी परिधि के इर्द-गिर्द घूमते रहे हैं।

अपनी साधनात्मक अनुभूतियों और उस मंजिल पर चलते हुए, समक्ष आये उतार-चढ़ावों की चर्चा इसलिए कर रहे हैं कि यदि किसी को आत्मिक प्रगति की दिशा में चलने का प्रयत्न करना हो, तो वर्तमान परिस्थितियों में रहने वालों के लिए यह सब कैसे सम्भव हो सका है ? इसका प्रत्यक्ष उदाहरण ढूँढ़ना हो, तो हमारी जीवन यात्रा बहुत मार्गदर्शन कर सकती है। वस्तुतः हमने एक प्रयोगात्मक जीवन जिया है। आध्यात्मिक आदर्शों का व्यावहारिक जीवन में तालमेल बिठाते हुए आन्तरिक प्रगति के पथ पर कैसे चला जा सकता है और उसमें बिना भटके कैसे सफलता पाई जा सकती है, हम ऐसे तथ्य की खोज करते हैं और उसी के प्रयोग में अपनी चिन्तन प्रक्रिया और शारीरिक गतिविधियाँ केन्द्रित करते रहे हैं। हमारे मार्गदर्शक का इस दिशा में पूरा-पूरा सहयोग रहा, सो अनावश्यक जाल-जंजालों में उलझे बिना सीधे रास्ते पर सही दिशा में चलते रहने की सरसता उपलब्ध होती रही है। उसी की चर्चा इन पंक्तियों में इस उद्देश्य से कर रहे हैं कि जिन्हें मार्ग पर चलने और सुनिश्चित सफलता प्राप्त करने का प्रत्यक्ष उदाहरण ढूँढने की आवश्यकता है उन्हें अनुकरण के लिए प्रमाणित आधार मिल सके।

आत्मिक प्रगति के पथ पर एक सुनिश्चित एवं क्रमबद्ध योजना के अनुसार चलते हुए हमने एक सीमा तक अपनी मंजिल पूरी कर ली है और उतना आधार प्राप्त कर लिया है जिसके बल पर यह अनुभव किया जा सके कि परिश्रम निरर्थक नहीं गया, प्रयोग असफल नहीं रहा। क्या विभूतियाँ या उपलब्धियाँ प्राप्त हुईं इसकी चर्चा हमारे मुँह शोभा नहीं देती। इसके जानने-सुनने और खोजने का अवसर हमारे चले जाने के बाद ही आना चाहिए। उसके इतने अधिक प्रमाण बिखरे पड़े मिलेंगे कि किसी अविश्वासी को भी यह विश्वास करने के लिए विवश किया जा

सकेगा, कि न तो आत्म विद्या का विज्ञान गलत है और न उस मार्ग पर सही ढंग से चलने वाले के लिए आशाजनक सफलता प्राप्त करने में कोई कठिनाई है । इस मार्ग पर चलने वाले आत्म शान्ति आन्तरिक और दिव्य अनुभूति की परिधि में घूमने वाली अगणित उपलब्धियों से कैसे लाभान्वित हो सकते हैं ? इसका प्रत्यक्ष प्रमाण ढूँढने के लिए भावी शोधकर्त्ताओं को हमारी जीवन-प्रक्रिया बहुत ही सहायक सिद्ध होगी । समयानुसार ऐसे शोधकर्त्ता उन विशेषताओं और विभूतियों के अगणित प्रमाण-प्रत्यक्ष प्रमाण स्वयं ढूँढ़ निकालेंगे जो आत्मवादी-प्रभु-परायण जीवन में हमारी तरह हर किसी को उपलब्ध हो सकना सम्भव है ।

- o -

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा
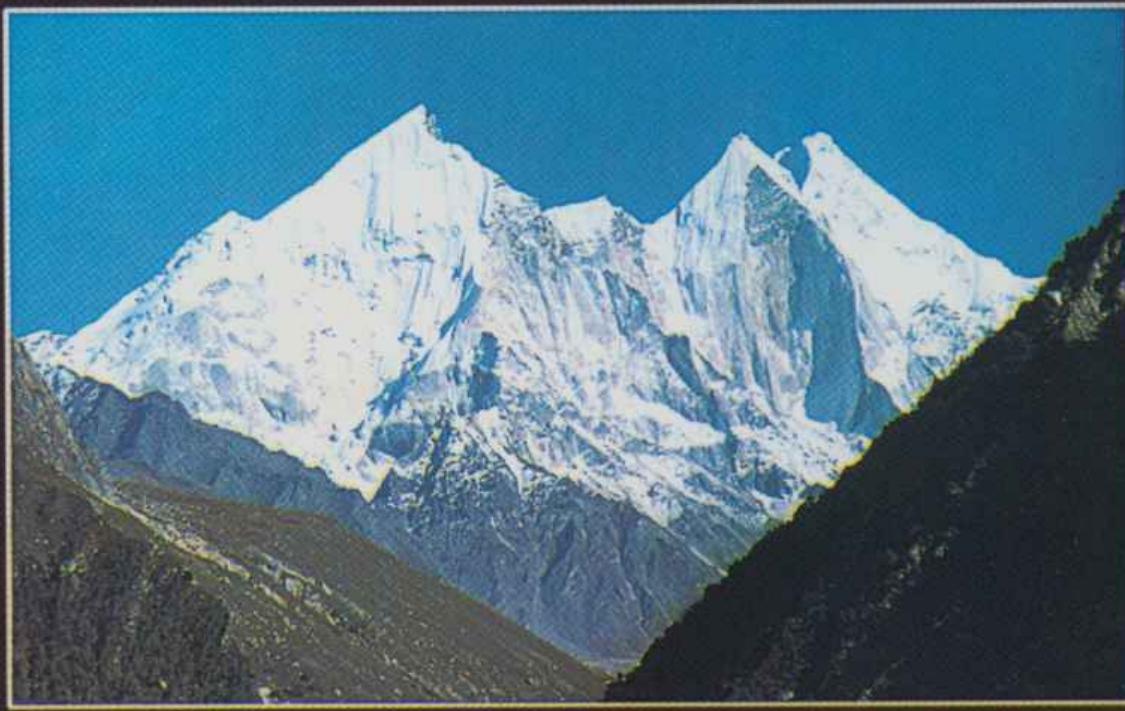
अध्यात्म चेतना का ध्रुवकेन्द्र हिमालय

दिव्य सुगंधि देने वाला, समाधि का आनन्द
प्रदान करने वाला ब्रह्मकमल